हिन्दी के दो प्रमुख वाद

—रहस्यवाद और छायावाद—

सपादक

प्रेमनारायण टडन, एम० ए०

मूल्य—दो रुपया

प्रकाशक
विद्यामंदिर
रानीकटरा, लखनऊ

परिवर्द्धित संस्करण
५०० प्रतियाँ
अगस्त, १९५४

मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस
रानीकटरा, लखनऊ

निवेदन

कई वर्ष पूर्व 'रहस्यवाद और छायावाद' के नाम से कुछ विद्वानों के लेखों का एक संग्रह मैंने प्रकाशित कराया था। नये नाम से, कुछ नयी सामग्री के साथ, वही इस रूप में अब पाठकों के सामने है। आशा है, साहित्य-प्रेमियों का इससे थोड़ा-बहुत मनोरंजन अवश्य होगा।

जिन विद्वानों के लेख इसमें संकलित हैं, उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—संपादक

विषय-सूची

आचार्य रामचंद्र शुक्ल—

हिंदी कविता की नयी धारा

भक्ति-काल और रीति-काल की चली आती हुई परंपरा के अंत में भारतेंदु-मंडल के प्रभाव से देश-प्रेम और जाति-गौरव की भावना को लेकर एक नूतन परंपरा की प्रतिष्ठा हुई। संवत् १९५० से १९७५ तक काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषय-स्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ, पर द्विवेदीजी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफाई आयी, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अतः संवत् १९५७ से हिंदी कविता में जो परिवर्तन हुआ और पीछे 'छायावाद' कहलाया वह पूर्ववर्ती अर्थात् संवत् १९५० से १९७५ तक की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तु-विधान की ओर नहीं, अर्थ-भूमि या वस्तु-भूमि का तो उसके भीतर बहुत सकोच हो गया; समन्वित विशाल भावनाओ को लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।

संवत् १९५० से १९७५ तक की कविता में काव्य का स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातों की कमी दिखायी पड़ती थी—कल्पना का रंग

भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था। इन बातों की कमी परंपरागत व्रजभाषा-काव्य का आनंद लेनेवालों को भी मालूम होती थी और बँगला या अँगरेजी की कविता का परिचय रखनेवालों को भी। अतः खडी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उडान, भाव की वेगवती व्यंजना, वेदना की निवृत्ति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने की आकांक्षा बढती गयी।

सुधार चाहनेवालो में कुछ लोग नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त खडी बोली की कविता को व्रजभाषा-काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजी की या अँगरेजी के ढग पर चली हुई बँगला की कविताओ से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य-व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथसिंह के किये हुए बँगला कविताओं के हिंदी-अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं मे सवत् १९६७ से ही निकलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेजी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी, जैसे जीतनसिंह द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का 'कोकिल', निकले। अतः खड़ी बोली की कविता जिस रूप से चल रही थी उससे संतुष्ट न रह कर सवत् १९७५ के आसपास कई कवि खड़ीबोली-काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने मे प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढर्रा लिये हुए जिस प्रकार की फुटकर

कविताएँ और प्रगीत मुक्तक बँगला में निकल रहे थे उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्र-मयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थी जिनमे से कुछ के भीतर रहस्य-भावना भी रहती थी। गुप्तजी की 'नक्षत्रनिपात' (सन् १९१४), 'अनुरोध' (सन् १९१५), 'पुष्पांजलि' (१९१७), 'स्वयं आगत' (१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयंआगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आँगन का एक फूल।
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिलाहुआ,
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल।

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत है किससे होकर आऊँ मै?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मै।

इसी प्रकार उनकी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ हैं, जैसे—

(ग) निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मै अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

(घ) प्यारे! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मै आया,
दीप्त बड़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा।

सो जाने के लिए जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा।
किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति अहा।

गुप्तजी तो, किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँधकर, कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं, पर मुकटधर जी बराबर नूतन पद्धति ही पर चले। उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में 'आँसू', 'उद्गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीडा-स्थान। (सन् १९१७)

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खजाना, अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा। (सन् १९१७)

(ग) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक। (सन् १९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहले ही भाव-व्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए--

> दे रहा दीपक जलकर फूल,
> रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अंधकार हिय हूल।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ आस-पास मिलेंगे।

ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नयी कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण-असाधारण, सब रूपो पर प्रेम-दृष्टि डालकर उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतो को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। भक्तिक्षेत्र मे उपास्य की एकदेशीय या धर्मविशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ रहे थे जिसमे सुंदर रहस्यात्मक संकेत भी रहते थे। अतः हिंदी-कविता की नयी धारा का प्रवर्तक इन्हीं को--विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को--समझना चाहिए। इस दृष्टि से छायावाद का रूप-रंग खडा करनेवाले कवियों के संबंध मे अँगरेजी या बँगला की समीक्षाओं से उठायी हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियो के मन मे एक आँधी उठ रही थी जिसमें आंदोलित होते हुए वे उडे जा रहे थे; एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमे सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी; रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी

अभिव्यक्ति के लिए हाथ-पैर मार रही थीं'। न कोई आँधी थी, न तूफान; न कोई नयी कसक थी, न वेदना; न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का उदय पर कोइ नया आघात था, न उसका आहत-नाद। इन बातो का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियो की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की हिंदी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यजक शैली की ओर कल्पना और सवेदना के अधिक योग को। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्तजी और मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छन्द नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थी। पुराने ईसाई संतो के छायाभास तथा योरपीय काव्य-क्षेत्र मे प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल मे ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगीं। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ, एक बने-बनाये रास्ते का दरवाजा-सा खुल पड़ा और हिंदी के नये कवि उधर एकबारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र मे प्रकट होना, कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अँगरेजी और बँगला की पदावली का जगह-

जगह ज्यो का त्यो अनुवाद रखा जाना, ये बाते मार्ग की स्वतत्र उद्भावना नही सूचित करती।

'छायावाद' नाम चल पडने का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओ की दूरारूढ़ साधना मे ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही--विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत-कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयीभाषा मे अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारो तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गयी। हृत्तंत्री, झंकार, नीरव, संदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पॉव आना, आँखमिचौनी, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ-साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियो के पुराने सामान भी इकट्ठे किये गये। कुछ हेर-फेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं मे मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर काम-वासना के शब्दो मे प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्य-धारा में कभी नही चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहॉ यह भी था, वह भी था' की प्रवृत्तिवालो को अच्छी नही लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद से लेकर तंत्र और योग-मार्ग तक की दौड लगाते हैं। उपनिषदो में

आये हुए आत्मा के पूर्ण आनन्दस्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानंद की अपरिमेयता को समझाने के लिए स्त्री-सम्बन्धवाले दृष्टांत या उपमाएँ, योग के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीज वे बड़े सतोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात ऊपर कही गयी है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मत-मतांतरो की साधना के क्षेत्र में रहस्य-मार्ग नहीं चले ? योग रहस्य-मार्ग है, तंत्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं ; प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नही। भारतीय परम्परा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रो को लेकर तरह-तरह के रंगमहल बनाने मे प्रवृत्त नही हुआ।

संहिताओ में तो अनेक प्रकार की बातो का संग्रह है। उपनिषदो में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्य-ग्रथ नही हैं। उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकाड, द र्शनिक चिंतन, सांप्रदायिक गुह्य साधना, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत-सी बातो में उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदिकाव्य कहलाना साफ यही सूचित करता है। संहिताओं और उपनिषदो को कभी किसी ने काव्य नहीं कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके

प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम-व्यंजना की हो। कबीरदास जिस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले, उसी भावात्मक रहस्य-परम्परा का यह नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है; बहुत रमणीय है, कुछ लोगों को अत्यंत रुचिकर है यह और बात है।

प्रणय-वासना का यह उद्‌गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगी। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

छायावाद की इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य-क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला-सम्बन्धी अनेक नये-पुराने सिद्धांत सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा 'कला का उद्देश्य कला ही है'। इस जीवन के साथ काव्य का संबध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी या पैगम्बर है। इसी प्रकार क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' को लेकर बताया गया कि 'काव्य में वस्तु या वर्ण्य विषय कुछ नहीं; जो कुछ है वह अभिव्यंजना

के ढंग का अनूठापन है'। इन दोनों वादो ने अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्य की सृष्टि या योजना कहा गया है जिस प्रकार बेलबूटे या नक्काशी का। कवि-कल्पना प्रत्यक्ष जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य-भावन के मद मे झूमनेवाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का सबंध स्वप्न और काम-वासना मे बताने-वाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकार के अनेक वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओ मे निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड तो वंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओ के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई; पर उन कविताओ की बहुत-कुछ गति-विधि अँगरेजी वाक्य-खंडों के अनुवाद द्वारा संघटित देख अँगरेजी काव्यो से परिचित हिंदी-कवि सीधे अँगरेजी से ही तरह-तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यो अनुवाद जगह-जगह अपनी रचनाओ मे जडने लगे। 'कनक-प्रभात', 'विचारो मे बच्चों की साँस', 'स्वर्ण समय,' 'प्रथम मधुबाल,' 'तारिकाओ की तान', स्वप्निल कांति' ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरो की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। निराला जी की शैली कुछ अलग रही। उसमे लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तडक-भडक और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का। केवल भाषा के प्रयोग-वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक योरपीय वादों और प्रवादो का उल्लेख हुआ है उन सबका प्रभाव भी छायावादी कही जानेवाली कविताओं के स्वरूप पर कुछ न कुछ पडता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखायी पड़ा कि काव्य मे भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने मे ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम मे लाये गये। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय प्रवृत्त न दिखायी पड़ा। पन्तजी अलबत प्रकृति के कमनीय रूपो की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाये गये।

दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गयी। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया। प्रेम-क्षेत्र--कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक--के भीतर ही कल्पना की चित्र-विधायिनी क्रीड़ा के साथ प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा व्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर की ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा अश्रुप्रवाह इत्यादि के रँगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अब तक पूर्ण तृप्त दिखायी देते हैं। जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नही है। बहुत-से नये रसिक प्रस्वेद गंध-युक्त, चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब कुछ समझने लगे हैं। लक्षणाशक्ति के सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्य-शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ; पर अभी तक कुछ बँधे हुए शब्दों की रूढ़ि चली आ रही है। रीति-काल की शृंगारी कविता की भरमार की तो इतनी निंदा की गयी, पर वही शृंगारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले

मैदान में—अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेक कर चल रही है।

'कलावाद' के प्रसंग में बार-बार आनेवाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत-से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगाकर कोहकाफ की परियो या बिहिश्त के फरिश्तों की तरह उड़ाते हैं; सौंदर्य-चयन के लिए इंद्र-धनुषी बादल, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर, पल्लव इत्यादि बहुत-सी सुन्दर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता मे जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौंदर्य की भावना ही नही कर सकते। 'कला-कला' की पुकार के कारण योरप में प्रगीत मुक्तकों का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसी का जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लम्बी कविताएँ पढ़ने की किसी को फुरसत कहाँ जिनमें कुछ इति-वृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे-छोटे प्रगीत मुक्तकों मे ही संभव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जानेवाले प्रसंग या आख्यानों की उद्‌भावना बन्द-सी हो गयी।

खैरियत यह हुई कि कलावाद की उस रसवर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूति के रूप में किसी प्रकार का भाव जगाना तो वक्ताओ का काम है; कलाकार का कोम तो केवल कल्पना-द्वारा बेल-बूटे या बारात की फुलवारी की तरह की शब्दमयी रचना खडी करके सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है। हृदय और वेदना का पक्ष छोडा नही गया है, इससे काव्य के प्रकृत स्वरूप के

तिरोभाव की आशंका नही है। पर छायावाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत-सा अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थ-भूमियों पर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जायगा।

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमे संदेह नही। उसमे भावावेश की आकुल व्यजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखायी पडी। भाषा के परिमार्जनकाल में किस प्रकार खड़ीबोली की कविता के रूखे-सूखे रूप से ऊबकर कुछ कवि उसमे सरसता लाने के चिह्न दिखा रहे थे यह कहा जा चुका है। अतः आध्यात्मिक रहस्यवाद का नूतन रूप हिंदी मे न आता तो भी शैली और अभिव्यंजन -पद्धति की उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुटित होती और उनका स्वतंत्र विकास होता। हमारी काव्य-भाषा मे लाक्षणिकता का कैसा अनूठा आभास घनानंद की रचनाओ मे मिलता है, यह पाठक जानते ही होगे।

छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के अन्तर्गत रहा है; उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कुछ कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन के और मार्मिक पक्षो की ओर भी बढते दिखायी दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य-शैली में प्रतिक्रिया

के प्रदर्शन या नयेपन की नुमायश का शौक भी घट रहा है। अब अपनी भाषा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं की सुव्यवस्थित और अर्थ-गर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखायी पड़ती है।

स्व० जयशंकरप्रसाद जी अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु गान ही करते रहे, पर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थ भूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुख-द्वेषपूर्ण मानव जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृंदावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पन्त ने 'गुंजन' के सौंदर्य-चयन से आगे बढ़ जीवन के नित्य स्वरूप पर भी दृष्टि डाली है; सुख-दुख दोनो के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति में भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पन्तजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य रूप में लेकर अपनी सुन्दर, चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' में किया है। 'युग-वाणी' में उनकी वाणी बहुत-कुछ वर्तमान आंदोलनो की प्रतिध्वनि के रूप के परिणत होती दिखायी देती है।

निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' में उस रहस्यमय 'नाद-वेद-आकार सार' का गान किया, 'जूही की कली' और 'शेफालिका' के उन्मद

प्रणय-चेष्टाओं के पुष्पचित्र खड़े किये उसी प्रकार 'जागरण-वीणा' बजायी, इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम-सीकर दिखाये। साराश यह कि अब शैली के वैलक्षण्य-द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का वेम कम हो जाने से अर्थ-भूमि के रमणीय प्रसार के चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियों की रचनाओं के दिखायी पड़ रहे हैं।

इधर हमारे साहित्य-क्षेत्र की प्रवृत्तियों का परिचालन बहुत-कुछ पश्चिम से होता है। कला के 'व्यक्तित्व' की चर्चा खूब फैलने से कुछ कवि लोक के साथ अपना मेल न मिलने की अनुभूति की बड़ी लम्बी-चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और फक्कड़पन के साथ, करने लगे हैं। भाव-क्षेत्र के असामंजस्य की इस अनुभूति का भी एक स्थान अवश्य है, पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमि की ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयों का मेल हो जाता है। वह सामंजस्य को लेकर—अनेकता में एकता को लेकर—चलता रहा है, असामंजस्य को लेकर नहीं।

—(:०:)—

डा० श्यामसुन्दर दास—

रहस्यवाद की विवेचना

रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। संसार-चक्र का प्रवर्त्तन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है। इस बात का अनुभव मनुष्य आदि काल से करता चला आया है। उस अज्ञात शक्ति को जानने की इच्छा सदैव मनुष्य को रही है और रहेगी। परन्तु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखायी दे सकती जिस प्रकार जगत के अन्य दृश्य रूप; और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचार-धारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। अपनी लगन से जो इस क्षेत्र में सिद्ध हो गये हैं, उन्होंने जब-जब अपनी अनुभूति का निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब-तब अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया है। कबीर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे का-सा गुड़ है—

अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
गूँगे केरा सरकरा, यों बैठा मुसकाइ॥

तजि बावैं दाहिनैं विकार, हरि पद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूँगे गुड़ खाया, बूझै तो का कहिए॥

यही रहस्यवाद का मूल है। वेद और उपनिषदो मे रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। गीता में भगवान के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह भी अत्यंत रहस्यपूर्ण है।

परमात्मा को पिता, माता, प्रिया, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा के रूप में देखना रहस्यवाद ही है; क्योंकि लौकिक अर्थ में परमात्मा इनमें से कुछ नही है। आदर्श पुरुषो मे परमात्मा की विशेष कला का साक्षात्कार कर उनको अवतार मानने के मूल मे भी रहस्यवाद ही है। मूर्ति को परमात्मा मानकर उसे मस्तक नवाना आदिम रहस्यवाद है।

परमात्मा के पितृत्व की भावना बहुत प्राचीन काल के वेदो ही में मिलने लगती है। ऋग्वेद की एक ऋचा में 'यो नः पिता जनिता यो विधाता' कहकर परमात्मा का स्मरण किया गया है। वेदो मे परमात्मा को माता भी कहा गया है—'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ'। परमात्मा के मातृ-पितृत्व से प्राणियों के भ्रातृत्व की भावना का उदय होता है—'अज्येष्ठासो अकनिष्ठासो एते संभ्रातरो'। बहुत पीछे के ईसाई ईश्वरवाद मे परमात्मा के पितृत्व और भ्रातृत्व की यही भावना पायी जाती है; अतएव पश्चिमी रहस्यवाद में भी इस भावना का प्राबल्य है। कबीर मे भी यह भावना मिलती है—

बाप राम राया अब हूँ शरण तिहारी।

उन्होने परमात्मा को 'माँ' भी कहा है--

हरि जननी मैं बालक तेरा ।

परन्तु भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद मूलक होने मे है जो भारतीयों की ब्रह्म-जिज्ञासा का फल है। उपनिषदो और गीता का रहस्यवाद यही रहस्यवाद है। जिज्ञासु जब ज्ञानी की कोटि पर पहुँच कर कवि भी होना चाहता है तब तो अवश्य ही वह इस रहस्यवाद की ओर झुकता है। चिंतन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र मे जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। सर्वात्मवादी कवि के रहस्योद्भावी मानस मे संसार उसी रूप मे प्रतिबिंबित नही होता जिस रूप मे साधारण मनुष्य उसे देखता है। वह परमात्मा के साथ सारी सृष्टि का अखंड संबंध देखता है जिसको चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हुए जायसी ने जगत् के सब रूपो को दिखलाया है। जगत के नाना रूप उसकी दृष्टि मे परमात्मा से भिन्न नही है, उसी के भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप हैं। स्वातंत्र्य के अवतार, स्त्रीत्व का आध्यात्मिक मूल समझनेवाले अँग्रेजी कवि शैली को भी सर्वात्मवादी रहस्यवाद ही मर्मर करते हुए काननों में, झरनों मे, उन पुष्पों की पराग-गंध मे जो उस दिव्य चुम्बन के सुख-स्पर्श से सोये हुए कुछ बर्राते से मुग्ध पवन को उसका परिचय दे रहे हैं, इसी प्रकार मंद या तीव्र समीर मे, प्रत्येक आते-जाते मेघ-खंड की झड़ी मे, वसंत-कालीन विहंगमों के कल कूजन मे और सब ध्वनियो और स्तब्धता मे भी अपनी प्रियतमा की मधुर वाणी सुनायी देती है। कबीर मे ऊपर परिगणित कुछ अन्य रहस्यवादी भावनाओ के होते हुए

भी प्रधानता इसी रहस्यवाद की है। मुसलमान कवियों की प्रेमाख्यानक परम्परा के जायसी एक जगमगाते रत्न हैं। वे रहस्यवादी कवियों की ही एक लड़ी हैं जिनमे सूफियो के मार्ग से होते हुए भारतीय सर्वात्मवाद आया है।

सर्वात्मवाद-मूलक रहस्यवाद मे 'माधुर्य भाव' का उदय हुआ, जो कबीर और प्रेमाख्यानक सब मुसलमान कवियो मे विद्यमान है। वैष्णवो और सूफियो की उपासना माधुर्य भाव से युक्त होती है। दार्शनिको ने परमात्मा को पुरुष और जगत् को स्त्री-रूप प्रकृति कहा है। माधुर्य भाव इसी का भावुक रूप है जिसमे परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत् के नाना रूप स्त्री-रूप मे देखे जाते हैं। मीराबाई ने तो केवल कृष्ण को ही पुरुष माना है, जगत् मे पुरुष उन्हें और कोई दिखाई ही नही दिया। कबीर भी कहते हैं—

[क] कहै कबीर ब्याहि चले है पुरिष एक अविनासी।

[ख] सखी सुहाग राम मोहिं दीन्हा॥

इस तरह के एक-दो नही, कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। राम की सुहागिन पहले अपना प्रेम निवेदन करती है—

गोकुल नायक बीठुलाँ मेरौ मन लागौ तोहि रे।

यह जीवात्मा की परमात्मा मे लगन लगने का आरंभिक रूप है। इसे ब्याह के पहले का पूर्वानुराग समझना चाहिए।

कभी वह वियोगिनी के रूप में प्रकट होती है और उस वियोगाग्नि मे जले हुए हृदय के उद्‌गार प्रकट करती है—

यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करौं करंक की, लिखि लिख राम पठाउँ ॥

परमात्मा के वियोग से जनित सारी सृष्टि का दुःख कितना घना होकर कबीर के हृदय मे समाया है !

राम की वियोगिनी आकुलता से उन दिनों की बाट देखती है जब वह प्रियतम का आलिंगन करेगी—

वै दिन कब आवैंगे भाइ
जा कारन हम देह धरी है, मिलिबौं अग लगाइ ॥

यहाँ जीवात्मा के परमात्मा से मिलने की आकुलता की ओर संकेत है । इस आकुलता के साथ-साथ भय भी रहता है । सारा विश्व जिसका व्यक्त रूप है, उस प्रियतम से मिलने के लिए असाधारण तैयारी करने की आवश्यकता होती हैं । 'हरि की दुलहिन' को भय इस आशंका मे होता है कि वह उतनी तैयारी कर सकेगी या नहीं । उसे अपने ऊपर विश्वास नही होता । फिर रहस्य-केलि के समय प्रियतम के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना होगा, वह यह भी नहीं जानती—

मन प्रतीत न प्रेम रस ना इस तन में दंग ।
क्या जाणौं उस पीव सूँ कैसे रहसी रंग ॥

इसमे साक्षात्कार की महत्ता का आभास है जो एक साधारण घटना नही है ।

ज्यों-ज्यों जीवात्मा को अपनी पारमात्मिकता का अनुभव होता

जाता है, त्यो त्यो उसका भय जाता रहता है। लौकिक भाषा में इसी की ओर इस पद मे इशारा है—

अब तोहिं जान न दैहूँ राम पियारे। ज्यूँ भावै त्यूँ होहु हमारे।

यह प्रेम की ढिठाई है।

परमात्मा से मिलने के लिए ऐसी 'ऊँची गैल, राह रपटीली' नहीं ते करनी पड़ती जहाँ 'पॉव नही ठहराय'। वह तो घर बैठे मिल जायँगे, पर उसके लिए पहुँची हुई लगन चाहिए, क्योंकि परम त्मा तो हृदय ही मे है—

बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घरि बैठे।

कबीरदास के नाम से लोगो की जिह्वा पर यह पद है—

मो को कहाँ ढूँढै बंदे, मै तो तेरे पास में।
न में देवल, ना मै मसजिद, ना काबे कैलास में॥

जायसी ने यही भाव यो प्रकट किया है—

पिउ हिरदय महँ भेट न होई, को रे मिलाव, कहौ केहि रोई !!

रहस्यमय उक्तियो की रहस्यात्मकता उनके लोकनियोजित शब्दार्थ मे नही है। उस अर्थ को मानने से उनकी रहस्यात्मकता जाती रहती हैं; उनका संकेत-मात्र ग्रहण करना चाहिए। मूर्ति को परमात्मा मानकर उसका पूजन इसी लिए करना चाहिए कि ईश्वर-प्राप्ति मे आगे की सीढ़ी सहज में चढ सके, क्योकि साधारणतः सब लोग परमात्मा या ब्रह्म का ठीक-ठीक स्वरूप समझने में नितांत असमर्थ होते हैं। अतः मूर्ति-पूजा के द्वारा मानो मनुष्य को ब्रह्म के भी साक्षात्कार की

प्रारंभिक शिक्षा मिलती है। उससे आगे बढकर सचमुच पत्थर को परमात्मा मानने में फिर कोई रहस्य नहीं जाता। ईसाइयो ने परमात्मा के पितृत्व-भाव को उसी समय इतिश्री कर दी जब ईसा को लौकिक अर्थ में परमात्मा का पुत्र मान लिया। राम और कृष्ण को साक्षात् परमात्मा ही मानने के कारण तुलसी और सूर में अवतारवाद की मूलीभूत रहस्यभावना नही आ पाई हैं। सखी-संप्रदाय ने मनुष्यों को सचमुच स्त्री मानकर और उनसे नाम भी स्त्रियों-जैसे रखकर और यहाँ तक कि उनसे ऋतुमती स्त्रियो का अभिनय कराकर 'माधुर्य भाव' रहस्यवाद को वास्तववाद का रूप दे दिया। रहस्यवाद के वास्तववाद से पतित हो जाने के कारण ही सदुद्देश्य से प्रवर्त्तित अनेक धर्म्म-संप्रदायों में इंद्रिय-लोलुपता का नारकी नृत्य देखने में आता है। रहस्यवादी कवियों का वास्तववादियों से इसी बात में भेद है कि वास्तववादी कवि अपने विषय का यथातथ्य वर्णन करते हैं, और रहस्यवादी संकेत मात्र कर देते हैं, अपने वर्ण्य विषय का आभास भर दे देते हैं। उनमें जो यह धुँधलापन पाया जाता है, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। परमात्मा की सत्ता का आभास मात्र ही दिया जा सकता है। इसके लिए वे व्यंजनावृत्ति से अधिकतर काम लिया करते हैं और चित्राधान उनका प्रधान उपादान होता है। उनकी बातें अन्योक्ति के रूप में हुआ करती हैं। किसी प्रत्यक्ष व्यापार के चित्र को लेकर वे उससे दूसरे परोक्ष व्यापार के चित्र की व्यंजना करते हैं। इसी से रहस्यवादी कवियों में वास्तव-वादियों की अपेक्षा कल्पना का प्राचुर्य अधिक होता है।

डा० रामकुमार वर्मा—

रहस्यवाद : उसकी व्याख्या

रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहती है, और यह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनो में कुछ भी अंतर नही रह जाता। जीवात्मा की सारी शक्तियाँ इसी शक्ति के अनंत वैभव से ओत-प्रोत हो जाती हैं जीवन में केवल उसी दिव्य शक्ति का अनंत तेज अंतर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल सा जाती है। एक भावना हृदय मे प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों मे प्रकाशित होती रहती है । यही दिव्य संयोग है ! आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा मे परमात्मा के गुणो का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा मे आत्मा के गुणों का प्रदर्शन।

इस संयोग में एक प्रकार का उन्माद होता है, नशा रहता है। उस एकांत सत्य से, दिव्य शक्ति से, जीव का ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्मा की सत्ता में अंतर्हित कर देता है। उस प्रेम मे चंचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती। वह प्रेम अमर होता है।

ऐसे प्रेम मे जीव की सारी इद्रियों का एकीकरण हो जाता है। सारी इद्रियों से एक स्वर निकलता है और उनमे प्रेम की वस्तु के पाने की लालसा समान रूप से होने लगती है। इंद्रियॉ अपने आराध्य के प्रेम को पाने के लिए उत्सुक हो जाती हैं और उनकी उत्सुकता इतनी बढ जाती है कि वे उसके विविधि गुणों का ग्रहण समान रूप से करती हैं। अत मे वह सीमा इस स्थिति को पहुँचती है कि भावोन्माद मे वस्तुओं के विविध गुण एक ही इन्द्रिय पाने की क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा मे शायद इन्द्रियॉ भी अपना कार्य बदल देती हैं। एक बार प्रोफेसर जेम्स ने यही समस्या आदर्श-वादियों के सामने सुल-झाने के लिए रक्खी थी कि यदि इन्द्रियॉ अपनी-अपनी कार्य-शक्ति एक दूसरे से बदल लें तो संसार मे क्या परिवर्तन हो जायँगे ? उदाहरणार्थ, यदि हम रगों को सुनने लगे और ध्वनियों को देखने लगे तो हमारे जीवन मे क्या अंतर आ जायगा ! इसी विचार के सहारे हम सेंट मार्टिन की रहस्यवाद से सबंध रखनेवाली परिस्थिति समझ सकते हैं जब उन्होंने कहा था—मैंने उन फूलों को सुना जो शब्द करते थे और उन ध्वनियो को देखा जो जाज्वल्मान थी।

अन्य रहस्वादियो के भी कथन हैं कि उस दिव्य अनुभूति मे इंद्रियॉ अपना काम करना भूल जाती हैं। वे निस्तब्ध-सी होकर अपने कार्य-व्यापार ही को नही समझ सकती। ऐसी स्थिति के आश्चर्य ही क्या कि इन्द्रियॉ अपना कार्य अव्यवस्थित रूप से करने लगें! इसी बात से हम उस दिव्य अनुभूति के आनंद का परिचय पा सकते हैं जिसमें हमारी सारी इंद्रियॉ मिलकर एक हो जाती हैं, अपना कार्य-व्यापार भूल जाती

हैं। जब हम अनुभूति का विश्लेषण करने बैठते हैं तो उसमें हमे न जाने कितने गूढ रहस्यों और आश्चर्यमय व्यापारों का पता लगता है।

रहस्यवाद के उन्माद मे जीव इद्रिय-जगत से बहुत ऊपर उठ कर विचार-शक्ति और भावनाओं का एकीकरण कर अनत और अंतिम प्रेम के आधार से मिल जाना चाहता है। यही उसकी साधना है, वही उसका उद्देश्य है। उसमे जीव अपनी सत्ता को खो देता है। 'मै-मेरा' सदैव के लिए अतर्हित हो जाते हैं। वहाँ जीव अपना आधिपत्य नही रख सकता। एक सेवक की भाँति अपने को स्वामी के चरणों मे भुला देना चाहता है। संसार के इन वाह्य बंधनों का विनाश कर आत्मा ऊपर उठती है। हृदय की भावना साकार बनकर ऊपर की ओर जाती है केवल इसलिए कि वह अपनी सत्ता एक असीम शक्ति के आगे डाल दे। हृदय की इस गति मे कोई स्वार्थ नही, ससार की कोई वासना नही, कोई सिद्धि नही, किसी ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं, केवल हृदय की प्रेम की पूर्ति है। और ऐसा हृदय वह चीज है जिसमे केवल भावनाओ का केन्द्र ही नही वरन् जीवन की वह अंतरंग अभिव्यक्ति है जिसके सहारे ससार के वाह्य पदार्थों मे उसकी सत्ता निर्धारित होती है। अनंत सत्ता के सामने जीव अपने को इतने समीप ला देता है कि उसको साधारण से साधारण भावना मे उस अनंत शक्ति की अनुभूति होने लगती है। अँग्रेजी के कवि कौलरिज ने इसी भावना को इस प्रकार प्रकट किया है :—

"हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं है
क्योंकि तू सब कुछ है और सब कुछ तुझ में है।

हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ है,
वह भी तुझसे प्राप्त हुआ है।
हम जानते है कि हम कुछ भी नहीं है
परन्तु तू हमें अस्तित्व प्राप्त करने में सहायक होगा
तेरे पवित्र नाम की जय हो !

कबीर की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ इस विचार को कितने सरल और स्पष्ट रूप से सामने रखती हैं :—

लोका जानि न भूलौ भाई
खालिक खलक, खलक में खालिक
सब घट रह्यो समाई ।

अतएव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रहस्यवाद अपने नग्न स्वरूप में एक अलौकिक विज्ञान है जिसमे अनन्त सम्बन्ध की भावना का प्रादुर्भाव होता है और रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो इस सम्बन्ध के अत्यत निकट पहुँचता है। उसे कहता ही नही, उसे जानता ही नहीं, वरन् उस संबंध ही का रूप धारण कर वह अपनी आत्मा को भूल जाता है।)

अब हमें ऐसी स्थिति का पता लगाना है जहाँ आत्मा भौतिक बंधनों का वहिष्कार कर, संसार के नियमों का प्रतिकार कर, ऊपर उठती है और उस अनंत जीवन में प्रवेश करती है जहाँ आराधक और आराध्य एक हो जाते हैं, जहाँ आत्मा और अनंत शक्ति का एकीकरण हो जाता है, जहाँ आत्मा यह भूल जाती है कि वह संसार की

निवासिनी है और उसका इस दैवी वातावरण में आना एक अतिथि के आने के समान है।

अँग्रेजी मे जार्ज हरवर्ट ने ऐसा कहा है—'ओ! अब भी मेरे हो जाओ, अब भी मुझे अपना बना लो, इस 'मेरे' और 'तेरे' का भेद ही न रक्खो।'

ऐसी स्थिति का निश्चित रूप से निर्देश नहीं किया जा सकता। इस संयोग के पास पहुँचने के पूर्व न जाने कितनी दशाएँ, उनमें भी न जाने कितनी अंतर्दशाएँ हैं, जिनसे रहस्यवाद के उपासक अपनी शक्ति भर ईश्वरीय अनुभूति पाना चाहते हैं। इसी लिए रहस्यवादियों की उत्कृष्टता में अंतर जान पड़ता है। कोई केवल ईश्वर की अनुभूति करता है, कोई उसे केवल प्यार कर सकने योग्य बन सका है, कोई अभिन्नता की स्थिति पर है और कोई पूर्ण रूप से आराध्य के अधीन हैं। सेंट आगस्टाईन, कबीर जलालुद्दीन रूमी यद्यपि ऊँचे रहस्यवादी थे तथापि उनकी स्थितियों में अन्तर था।

इस रहस्यवादियों की उद्देश्य-प्राप्ति मे हम तीन परिस्थितियों की कल्पना कर सकते हैं। पहली परिस्थिति तो वह है जहाँ वह व्यक्ति-विशेष अनंत शक्ति से अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होता है। वह संसार की सीमा को पार कर ऐसे लोक मे पहुँचता है जहाँ भौतिक बन्धन नहीं, जहाँ संसार के नियम नहीं, जहाँ उसे अपने शारीरिक अवरोधों की परवाह नहीं है।

वह ईश्वर के समीप पहुँचता है और दिव्य विभूतियों को देखकर

चकित हो जाता है। यह रहस्यवादी की प्रथम परिस्थिति है। इस परिस्थिति का वर्णन कबीर ने बडी सुन्दर रीति से किया है:—

घट घट से रटना लागि रही,
परघट हुआ अलेख री।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साह हुआ,
कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख जी॥

तात्पर्य यह है कि यहाँ संसार की सभी वस्तुएँ अनंत शक्ति मे विश्राम पाती हैं और सभी अनंत सत्ता मे आकर मिल जाती हैं। यहाँ रहस्यवादी ने अपने लिए कुछ भी नही कहा है, वह चुप है। उसे ईश्वर की इस अनंत शक्ति पर आश्चर्य-सा होता है। वह मौन होकर इन बातो को देखता-सुनता है। यद्यपि ऐसे समय वह अपना व्यक्तित्व भूल जाता है पर ईश्वर की अनुभूति स्वयं अपने हृदय मे पाने से असमर्थ रहता है। इसे हम रहस्यवादियो की प्रथम स्थिति कहेगे।

द्वितीय स्थिति तब आती है जब आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाती है। भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मा मे एक प्रकार उन्माद या पागलपन छा जाता है। आत्मा मानों प्रकृति का रूप रख पुरुष—आदि पुरुष—से प्यार करता है। संसार की अन्य वस्तुएँ उनकी नजर से हट जाती हैं। आश्चर्य-चकित होने की अवस्था निकल जाती है और रहस्यवादी चुपचाप अपने आराध्य को प्यार करने लग जाता है। वह प्यार इतना प्रबल होता है कि उसके समस्त विश्व की कोई चीज नहीं ठहर सकती। वह प्रेम बरसात के उस प्रबल नाले की भाँति होता है जिसके सामने कोई भी वस्तु नही रुक सकती। पेड,

पत्थर, झाड, झंखाड, सब उस प्रवाह मे बह जाते हैं। उसी प्रकार इस प्रेम के आगे कोई भी वासना नहीं ठहर सकती। सभी भावनाएँ, हृदय की सभी वासनाएँ बड़े जोर से एक ओर को बह जाती हैं और एक—केवल एक—भाव रह जाता है, और वह है प्रेम का प्रबल प्रवाह। जिस प्रकार किसी जल-प्रपात के शब्द मे समीप के सभी छोटे-छोटे स्वर अन्तर्हित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उस ईश्वरीय प्रेम मे सारे विचार या तो लुप्त ही हो जाते हैं, अथवा उसी प्रेम के बहाव मे बह जाते हैं। फिर कोई भावना उस प्रेम के प्रबल प्रवाह के रोकने को आगे नही आ सकती।

इसके पश्चात् रहस्यवादियो की तीसरी स्थिति आती है जो रहस्यवाद की चरम सीमा कहला सकती है। इस दशा मे आत्मा और परमात्मा का इतना एकीकरण हो जाता है कि फिर उनमे कोई भिन्नता नहीं रहती। आत्मा अपने मे परमात्मा का अस्तित्व मानती है और परमात्मा के गुणो को प्रकट करती है। जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था मे आग और लोहे का एक गोला, ये दोनों भिन्न हैं; पर जब आग से तपाए जाने पर गोला भी लाल होकर अग्नि का स्वरूप धारण कर लेता है तब उस लोहे के गोले मे वस्तुओ के जलाने की वही शक्ति आ जाती है जो आग मे है। यदि गोला आग से अलग भी रख दिया जाय तो भी वह लाल स्वरूप रखकर अपने चारो ओर आँच फेकता रहेगा। यही हाल आत्मा का परमात्मा के संसर्ग से होता है। यद्यपि प्रारंभिक अवस्था मे माया के वातावरण मे आत्मा और परमात्मा दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं पर जब दोनो आपस मे मिलती हैं तो परमात्मा के गुणों का प्रवाह आत्मा मे इतने अधिक वेग से होता है कि

आत्मा के स्वाभाविक निज के गुण तो लुप्त हो जाते हैं और परमात्मा के गुण प्रकट जान पड़ते हैं। यही अभिन्न सम्बन्ध रहस्यवादियो की चरम सीमा है। इसका फल क्या होता है—

- गम्भीर एकांत सत्य का परिचय
— परम शांति की अवतारणा
- जीवन मे अनंत शक्ति और चेतना
— प्रेम का अभूत-पूर्व आविर्भाव
— श्रद्धा और भय

-- भय, वह भय नही जिससे जीवन की शक्तियों का नाश हो जाता है, किंतु वह भय जो आश्चर्य से प्रादुर्भूत होता है और जिसमे प्रेम, श्रद्धा और आदर की महान शक्तियाँ छिपी रहती हैं। ऐसी स्थिति मे जीवन मे व्यापक शक्तियाँ आती हैं और आत्मा इस बधनमय ससार से ऊपर उठकर उस लोक मे पहुँच जाती है जहाँ प्रेम का अस्तित्व है और जिसके कारण आत्मा और परमात्मा मे कुछ भिन्नता प्रतीत नही होती, अनंत की दिव्य विभूति जीवन का आवश्यक अग बनती है और शरीर की सारी शक्तियाँ निरावलंब होकर अपने को अनंत की गोद मे फेंक देती हैं—

'जिस प्रकार मछलियाँ समुद्र में तैरती हैं, जिस प्रकार पक्षी वायु में झूलते हैं, तेरे आलिंगन से हम विमुख नहीं हो सकते। हम साँस लेते हैं और तू वहाँ वर्तमान है।'

इस प्रकार रहस्यवादी दैवी शक्ति से युक्त होकर संसार के अन्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठ जाता है। उसका अनुभव भी अधिक

विस्तृत और आध्यात्मिक हो जाता है। उसका संसार ही दूसरा हो जाता है और वह किसी दूसरे ही वातावरण मे विचरण करने लगता है।

किंतु रहस्यवादी की यह अनुभूति व्यक्ति गत ही समझनी चाहिए। उसका एक कारण है। वह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि ससार के शब्दो में उसका स्पष्टीकरण असभव नहो तो कठिन अवश्य है। वह कांति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखो से नही देख सकते। वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहो लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगंधि ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि उसे हम किसी प्रशातवन मे नहीं देख सकते, वरन् उसे कल-कल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ससार की भाषा इतनी ओछी है कि उसमे हम पूर्ण रीति से रहस्यवाद की अनुभूति प्रकट ही नहीं कर सकते। दूसरी बात यह कि रहस्यवाद की यह भावुक विवेचना समझने की शक्ति भी तो सर्वसाधारण मे नहीं है। रहस्यवादी अपने अलौकिक आनंद मे विभोर होकर यदि कुछ कहता है तो लोग उसे पागल समझते हैं। साधारण मनुष्यों के विचार इतने उथले हैं कि उनमे रहस्यवाद की अनुभूति समा ही नही सकती। इसीलिए 'अलहल्लाज-मंसूर' अपनी अनुभूति का गीत गाते गाते थक गया; पर लोग उसे समझ ही नहो सके। लोगों ने उसे ईश्वरीय सत्ता का विनाश करनेवाला समझकर फाँसी दे दी। इसीलिए रहस्यवादियो को अनेक स्थलों पर चुप रहना पडता है। उसका कारण वे यही बतला सकते हैं कि—

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत।'

डा० केसरीनारायण शुक्ल—

आधुनिक हिंदी साहित्य और रहस्यवाद

देश-दशा का संकेत देनेवाली नई प्रवृत्तियाँ भारतेंदु-युग से आगे चलकर द्विवेदी-युग में और भी मुखर हुईं। भारत के भव्य अतीत और वर्तमान दुरवस्था के चित्रण की जिस नई प्रवृत्ति का भारतेंदु-काल में आरम्भ हुआ वह द्विवेदी-युग में और भी प्रबल हुई। इसकी सबसे ओजपूर्ण अभिव्यक्ति 'भारत-भारती' में हुई जिसमें कवि ने आर्य-संस्कृति के सुनहरे युग की याद की, वर्तमान अधःपतन पर आँसू बहाये, लोगों को चेतावनी दी, जगाया और देश के उज्वल भविष्य की आशा प्रकट की। वर्त्तमान के वर्णन में प्रकट होनेवाला (राष्ट्रीयता और) यथार्थप्रेम, और अतीत प्रेम में अपनी उड़ान का मार्ग खोजनेवाली कल्पनात्मक मनोदृष्टि—ये दोनों आगे चलकर साहित्य में दो महत्वपूर्ण वादों के प्रवर्त्तन के कारण बने। अतीत की उड़ान और कल्पना के योग ने छायावाद के युग का आरम्भ किया और यथार्थप्रेम (आगे चलकर) प्रगतिवाद के रूप में हमारे सामने प्रकट हुआ। छायावाद और प्रगति-वाद हमारे वर्तमान साहित्य की नवीन प्रवृत्तियाँ हैं जिनका प्रभाव विविध रूपों में दिखाई पड़ रहा है।

इनमें छायावाद का बड़ा महत्त्व है ; क्योंकि वर्तमान समय के अधिकांश लेखक इससे प्रभावित हुए और इस वर्ग या 'स्कूल' के प्रमुख कलाकारों की रचनाओं का आगे चलकर स्वागत हुआ। छायावाद का आरम्भ अपने पूर्ववर्ती काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया और विद्रोह के रूप में हुआ। इसने मानसिक जगत की क्रांति की जिसमें वर्णन के स्थान पर व्यंजना, बाह्यार्थता की जगह अन्तर्वृत्तियों के निरूपण, परम्परा की अपेक्षा प्रयोगों की मौलिकता और नवीनता और यथातथ्य के स्थान पर कल्पना और व्यक्तिवादिता को प्रधानता दी गई। इस प्रकार भाव, भाषा, शैली, सभी क्षेत्रों में छायावाद नवीनता के आह्वान और रूढ़ि के खंडन और परित्याग का कारण बना।

प्रतिक्रिया के रूप में आने पर भी छायावाद केवल खंडन या निराकरण ही तक सीमित न रहा। रोमांटिसिज्म के कल्पनात्मक दृष्टिकोण और विलक्षण तथा असामान्य की खोज भी उसमें प्रकट हुई। इसके साथ ही कवियों के आत्मप्रत्यय, आत्माभिव्यक्ति की उत्कट अभिलाषा और स्वच्छंदताप्रेम ने ऐसे साहित्य की रचना की जो नवीनता के साथ-साथ सौंदर्य से भी समन्वित हुआ और जिसका अपना निराला व्यक्तित्व है।

भावक्षेत्र में ये छायावादी कवि सौंदर्य की खोज और उपासना में प्रवृत्त हुए। प्रेम और प्रकृति के उन्मुक्त क्षेत्र में इनकी कल्पना ने अबाध रूप से विचरण किया और इनकी प्रतिभा ने रहस्य की जिज्ञासा के अत्यन्त भावुक संकेत दिये। पंत के लिये 'अकेली सुंदरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों की संधान' बनी। 'निराला' भी कुछ ऐसी ही बात

कहते हैं। इसी तरह कवि की जिज्ञासा तथा रहस्यभावना की तृप्ति के लिये कवि की कल्पना कभी सुदूर अतीत की ओर गई और कभी अपने आस-पास बिखरी हुई वस्तुओं से संतुष्ट हो गई। लहराता हुआ सरोवर, बालक्रीडा, तारोंवाली रात आदि ने कवि की भावना को उद्दीप्त कर आत्मविभोर बना दिया। इस प्रकार रहस्य की प्रवृत्ति छायावादी काव्य के बीच अत्यन्त प्रचलित हुई। इसे कुछ कवियों ने आध्यात्मिक क्रिया के रूप में अपनाया और कुछ ने फैशन के रूप में और नाम कमाने के लिये। स्वभाव और मनोदृष्टि के अनुसार सभी छायावादी कवियों ने रहस्यवाद का प्रदर्शन किया। यदि पंत को सौंदर्य ने रहस्योन्मुख बनाया तो 'निराला' को दार्शनिक तत्त्वज्ञान ने और महादेवी वर्मा को प्रेम और वेदना ने। यदि 'प्रसाद' ने उस परम सत्ता को अपने से बाहर खोजा तो 'निराला' ने अपने भीतर ही 'हीरे की खान' पाई। यदि 'प्रसाद' ने सरिता के सागर की ओर बढ़ने में साधक की आध्यात्मिक प्रगति का रूपक पाया, तो 'निराला' ने 'रासायनिकों' के प्रतीकों को अपनाया, और महादेवी वर्मा ने 'माधुर्य भाव' के द्वारा उसकी व्यंजना की। इस प्रकार रहस्यवाद के क्षेत्र में मनोदृष्टि, प्रतीक तथा व्यंजना की अनेकरूपता और विविधता का जन्म हुआ।

रहस्य की प्रवृत्ति के समान ही छायावादी काव्य के बीच प्रकृति और प्रेम का प्राचुर्य रहा। फिर भी कवियों ने इनका प्रतीकात्मक प्रयोग ही किया। इन दोनों के सहारे कवियों ने अपने आभ्यंतर की अभिव्यक्ति की। प्रकृति के बीच कवि ने अपनी ही इच्छा, आकांक्षा तथा आशा-निराशा का चित्र देखा। फलतः प्रकृति प्रतीक बन गई—कभी

कवि की मनोदशा और (आन्तरिक) अनुभूतियो का और कभी आध्यात्मिक तथा रहस्यपूर्ण तत्वो का। इस प्रकार प्रकृति की शोभा और सुषमा आध्यात्मिक बन गई और उसका वर्णन अप्राकृतिक और अस्वाभाविक हो गया। इसी तरह प्रेम के क्षेत्र मे भी अस्पष्टता आ गई, और इसकी व्यंजना मे वह उत्कर्ष, शालीनता और आत्मीय राग न मिल सका जिसकी अपेक्षा होती है। 'एक पंथ दो काज' और 'दीन और दुनिया' दोनो सम्हालने के चक्कर मे न तो इनके लौकिक प्रेम का ओजपूर्ण वर्णन हो सका और न यही कहा जा सकता है कि उनका ईश्वर या साध्य या उपास्य देव ही सतुष्ट हुआ। इसके परिणामस्वरूप छायावाद मे ऐसी धूमिलता और कुहेलिका छाई जिसमे कुछ भी कहा जा सकता था और उसकी कुछ भी टीका की जा सकती थी। ऐसी बहुत सी रचनाएँ हुई जिनका प्रकृत विषय लौकिक प्रेम भी हो सकता है और साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि ये रचनाएँ आध्यात्मिक प्रेम की प्रतीक हैं।

यह प्रतीकात्मकता छायावाद की बहुत बडी विशेषता है और छायावादी काव्य की शैली विशेष है। इस छायावादी शैली मे प्रतीका-त्मकता के साथ-साथ लक्षणा, व्यजना, विशेषण-विपर्यय, नाद-चित्रण मानवीकरण, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि भी अंग-रूप मे वर्त्तमान हैं। गीतात्मकता इसकी दूसरी विशेषता है। नाद के उपयुक्त शब्द-चयन और शब्दो की भावना और आत्मा पहचानने का स्तुत्य प्रयत्न हुआ। इसी प्रकार छंद-ससार के बीच नवीनता और मौलिकता की खोज हुई। प्राचीन छदो में उलट-फेर करके नवीन छंदों की उद्भावना की गई।

कुछ कवि इससे आगे बढ़े और उन्होने अनूठे लय-विधान के सहारे मुक्त छंद या स्वच्छंद छद का सफल प्रयोग किया। आरम्भ में तो इनके छंदो को लोगो ने 'रबड छंद' कहा, किंतु बाद मे इनकी सराहना की गई। जिस तरह प्रतीक-विधान मे पंत की कल्पना अत्यन्त जागरूक है उसी प्रकार स्वच्छंद छंद में 'निराला' अत्यन्त सफल हुए। 'प्रसाद' ने भी 'स्वच्छंद छंद' में कुछ ऐतिहासिक रचनाएँ लिखी हैं। इनमे मन के आवेग और आवेश ने ही मानो अपने अनुरूप शब्द-सौन्दर्य और लय-विधान को गढ़ कर अभिव्यक्ति पाई है। इस प्रकार अधिकाश छायावादी काव्य की रचना प्रगीत मुक्तक की शैली मे हुई।

छायावाद की इस नवीन शैली मे उसकी शक्ति और दुर्बलता, प्रगति और पलायन के चिह्न भी वर्त्तमान हैं। उसकी शक्ति मिलती है नवीन प्रतीकों की उद्भावना मे, कल्पना के वैभव में, सौंदर्य की अभिव्यक्ति मे और रहस्य के संकेतो मे। उसकी प्रगति मिलती है परम्परा और रूढ़ि के त्याग मे, नवीन और मौलिक की खोज मे, और अपने को स्वतंत्र और स्वच्छंद समझने के विश्वास में। इसी प्रकार नवीनता की खोज मे विलक्षणता और असामान्यता के लिये जो दौड़ हुई वह उसकी दुर्बलता प्रमाणित हुई क्योकि सामान्य जनता उसे न समझ सकी। इसी प्रकार नवीन प्रतीक कभी-कभी कवि और पाठक के बीच सम्यक् भाव वहन न कर सके। उनकी कल्पना क्लिष्ट और दूर की चीज प्रतीत हुई, उनकी भाषा दुर्बोध और जटिल मालूम हुई और उनके रहस्य-सकेत अस्पष्ट, धूमिल, अविश्वसनीय और अस्वाभाविक लगे। उनके पलायन का सकेत मिला सूक्ष्म के अत्यधिक आराधन और

वस्तुस्थिति तथा स्थूल सत्य की उपेक्षा में। इसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद मे दो विरोधी तत्त्व साथ-साथ प्रकट हुए जिससे एक ओर तो इसके 'पंत', 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा जैसे समर्थ कवियो का आदर हुआ और दूसरी ओर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ जिससे दूसरी प्रवृत्तियो का साहित्य मे आविर्भाव हुआ। यहाँ पर यह कह देना अप्रासगिक न होगा कि छायावाद की दूसरी पीढी के भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' जैसे कवियो पर यद्यपि छायावाद की व्यक्तिवादिता और निराशा आदि का रग गहरा था फिर भी वे इस ओर सावधान रहे कि उनकी भाषा पर दुर्बोधता और जटिलता का आक्षेप न किया जा सके। इनमे जहाँ 'बच्चन' की भाषा हिंदी की स्वाभाविक मिठास और प्रवाह को आगे बढ़ाती चली वहाँ उनमे छायावादी काल्पनिक निराशा भी परिस्थिति की कठोरता के कारण सत्य और सजीव हो गई। इसी प्रकार नैपाली, नरेन्द्र, आरसो आदि बाद मे आनेवाले कवियो मे रचना के सुदर होने के पहले सुस्पष्ट होने की प्रवृत्ति लक्षित होती हैं। बोधगम्य और सुस्पष्ट विषयों की खोज मे वे दैनिक जीवन के अधिक निकट आए। इस प्रकार छायावाद के अतिम चरण मे, परिस्थिति और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप, उसमे काल्पनिकता की कमी और यथार्थता का संचार हुआ।

छायावाद के इस परस्पर विरोधी स्वरूप, उसकी प्रगति और पलायन के मूल मे है कवियो का आत्मप्रत्यय, उनकी व्यक्तिवादिता और उनकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति ने हृदय की आन्तरिक अनुभूतियो को ही यथार्थ और महत्त्वपूर्ण माना और इस प्रकार बाह्यार्थ की अप्रधानता और अवास्तविकता की घोषणा की। इन आन्तरिक

अनुभूतियो को सत्य और विश्वसनीय समझने के कारण, इन अनुभूतियो के केन्द्र अर्थात् अपने व्यक्तित्व के प्रति विश्वास हुआ और छायावादी कवि बडे उत्साह से अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करने लगे। अहभावना का उदय हुआ और छायावादी कवि अपनी आन्तरिक वैयक्तिक तथा निराली मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन करने लगे। पत की 'पल्लव' की भूमिका और शब्दो के सबध मे उन्होने व्याकरण-सबधी या अन्य स्वच्छदताएँ ली है वह इस बात का सकेत है। 'निराला' जी ने एक स्थान पर कहा है कि "मैने 'मै' शैली अपनाई"। यह 'मै' शैली केवल निरालाजी ने ही नही अपनाई, यह समस्त छायावादी काव्य की विशेषता बन गई।

'मैं' शैली ने 'मै' की स्वतंत्रता और स्वच्छदता की मॉग की। कवि स्वच्छदतावादी बने। इस मनोदृष्टि ने कला के लिये इस सिद्धान्त के आग्रह को जन्म दिया। कवि अपने हृदयोद्‌गरों की व्यजना के लिये अपने को पूर्ण रीति से स्वतंत्र मानने लगे, चाहे उनकी भावना प्रचलित और प्रतिष्ठित जनरुचि के अनुकूल हो या प्रतिकूल। इस सिद्धान्त ने जहॉ एक ओर कवि को प्रचलित रीति-नियमो का गुलाम बनने को विवश न किया, वस्तु-चयन की स्वतंत्रता दी, और स्वच्छद अभिव्यक्ति का अवसर देकर काव्य को मिथ्यावाद से बचाया; वहॉ समाज और नैतिकता से उसका विच्छेद भी किया और कवि तथा जन-जीवन के बीच गहरी खाई भी प्रस्तुत कर दी। थोड़े समय तक तो बहुत से कवि अपने को सामान्य से पृथक् तथा ऊपर समझने लगे। जिस तरह उनकी शैली और भाषा उनकी रचना को अन्य रचनाओं से अलग करती थी उस।

प्रकार वे कवि भी अपनी वेश-भूषा के कारण दूर से ही पहचाने जाते थे। वे सामान्य जनता में घुलमिल नही सकते थे। इस व्यक्तिवाद ने जहॉ छायावाद की सौंदर्य-खोज को विलास-क्रीडा, और रहस्यवाद को पहेली बनाकर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रवर्त्तन किया वहॉ 'पत' और 'निराला' जैसे कवियो को प्रगतिवाद का उन्नायक बनाया।

फिर भी छायावाद का व्यक्तिवाद और जन-जीवन से उसका पार्थक्य अकारण या अनायास न था। इसका एक कारण तो यह है कि कवियो का समुदाय जिस मध्यमवर्ग से आता है उसकी जडें सामान्य जीवन के बीच नही जमी हैं। यह वर्ग जीवन-सरिता के ऊपर ही उतराता हुआ इधर से उधर बह रहा है। इसकी शिक्षा, संस्कृति और मनोभावना ने इसको जनसाधारण के जीवन, परिस्थिति, आवश्यकता तथा भावना से दूर कर दिया है। अतः देश के सामान्य सामाजिक वातावरण से दूर रहने के कारण और सामाजिक साध्य से—जो जनसाधारण के जीवन की सब से बडी यथार्थता है—उदासीन रहने कारण इसकी रचनाओ में कृत्रिमता और अलगाव का प्राधान्य है। इसी प्रकार छायावाद की अन्य मूल प्रवृत्तियो के कारण भी हमारे वर्त्तमान सामाजिक और सांस्कृतिक ढॉचे मे मिल जाते है। छायावाद के व्यक्तिवाद, आत्माभिव्यक्ति, कलावाद आदि 'बुर्जुआई' सस्कृति के ही विविध रूप हैं। हमारे समाज की व्यवस्था ही प्रतिद्वन्द्विता के आधार पर है, जिसमे एक व्यक्ति को जीने के लिये दूसरे व्यक्ति से लडना पडता है और उसमें स्वायत्त की लालसा प्रबल हो उठती है। जब आज के समाज के मूल्यांकन का मानदड अधिकार-सत्तागत मूल्य (Property value) के आधार पर

है तो जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता की भावना प्रबल हो गई। पूँजीवादी व्यवस्था के समाज के बीच व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य है क्योंकि उसका आधार ही व्यक्तिगत एकाधिकार (Monopoly) है। इसलिये ऐसे समाज के बीच रहनेवाले साहित्यवाद को भी यदि जीवन-युद्ध मे सफल होने के लिये अपनी प्रतिभा का विज्ञापन करना पडे और उससे व्यक्तिगत लाभ उठाने को बाध्य होना पडे तो क्या आश्चर्य। इसलिये यदि व्यक्तिवादी समाज के बीच—जहाँ सपूर्ण समाज की उन्नति दुराशा मात्र है और जहाँ व्यक्तिगत सफलता और सपन्नता सम्भव है—कवि ने भी व्यक्तिवाद का राग अलापा और अन्य एकाधिकारियों की प्रतिष्ठा के सामने पृथक अपना एकाधिकार माना और अपने को शुद्ध काव्य या कला तक सीमित रक्खा तो कोई असंभावित बात न हुई। व्यक्तिवाद तो पूँजीवादी दर्शन की भाषा और परिभाषा दोनो है। इसी प्रकार जब पूँजीवाद ने प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में व्यक्ति की उन्नति के लिये स्वतत्रता के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और प्रतिष्ठा की माँग पेश की तो साहित्यकार ने भी आत्माभिव्यक्ति के अधिकार की दुहाई दी। इस प्रकार छायावाद भी सामाजिक तथा सास्कृतिक वस्तु-स्थिति की प्रतिच्छाया ही ठहरता है।

एक बात और, राष्ट्रीय जागरण की कर्मशीलता के युग में छायावाद की रहस्यभावना और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (या उसकी अकर्मण्यता) लोगो को कुछ विलक्षण प्रतीत होती है। किंतु बात ऐसी नहीं है। सघर्ष के प्रत्येक युग के पहले और उसके आरभिक वर्षों में अधिकांश देशों के साहित्य में इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। फ्रास की राज्य-

क्राति से प्रभावित जिस 'रोमटिसिज्म' का योरप और इँगलैड मे प्रसार हुआ उसमे स्वच्छदता और रहस्यवाद दोनो की भावनाएँ मिलती हैं। कवि स्वतत्रता का भी आवाहन करते थे और रहस्योन्मुख भी थे। ब्लेक ने स्वतत्रता का स्वागत भी किया और रहस्यवादी रचनाएँ भी लिखी। इसी प्रकार वर्ड्स्वर्थ, शैली आदि कवियो ने स्वतंत्रता के गीत लिखे और आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया। इसी प्रकार जब आयरलैंड अपनी स्वतत्रता के जीवन-मरण-युद्ध मे व्यस्त था और उसके युवक गोलियों के शिकार हो रहे थे, आयरिश साहित्य का पुनरुत्थान हुआ। इस आयरिश साहित्य मे भी रहस्यात्मकता, प्रतीकवाद और आध्यात्मिकता का प्राधान्य था। इसी प्रकार रूसी क्राति के पहले और उसके बीच भी रूसी काव्य-क्षेत्र मे रोमाटिसिज्म और प्रतीकवाद का प्रचार था। क्राति का मुक्त हृदय से स्वागत करनेवाले रूस के प्रमुख कवि अलेक्जेण्डर ब्लॉक की आरभिक रचनाएँ रोमांटिसज्म और प्रतीकवाद से रँगी हैं। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि ब्लॉक रोमाटिसिज्म पर रुका नही ; वह और आगे बढ़ा। इसी प्रकार हमारे देश की राष्ट्रीय क्राति के बीच छायावाद मे एक ओर तो स्वच्छदतावाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है और दूसरी ओर रहस्यात्मकता और स्वच्छदतावाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है और दूसरी ओर रहस्यात्मकता और अतर्दर्शन की प्रवृत्ति है। संघर्षकाल के बीच काव्य मे स्वच्छदतावाद और रहस्यवाद दोनो प्रकार की भावनाओ को देखकर यही कहा जा सकता है कि कवियो ने उनका स्वागत-गान लिखा, स्वतत्रता को सिद्धांत-रूप से तो स्वीकार कर लिया, किंतु उसकी व्यावहारिक भयानकता से या तो पलायनवादी बन गए या लौकिक क्षेत्र

में स्वतत्रता के अतिरिक्त और दूसरी वस्तुओ को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर आध्यात्मिकता मे तन्मय होकर आत्मदर्शन में निमग्न हो गए।

छायावाद का जन्म और अन्त दो विगत महायुद्धो की सीमा से घिरा है। यह समय राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति और हलचल का युग भी है। इसी समय से हमारे राष्ट्रीय जीवन ने क्रियात्मक रूप धारण किया। इसी समय से नवचेतना, उत्साह और कार्यशीलता के दर्शन होते हैं। साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनो को कुचलने के लिये अधिकारियो द्वारा जो दमन-चक्र चलाया गया उसके फलस्वरूप जीवन में क्षोभ और निराशा का भी व्यापक प्रसार हुआ। राष्ट्रजीवन की विवशता और दमन तथा दरिद्रता के परिणामस्वरूप जो निराशा जगी उसकी अभिव्यक्ति सभी छायावादी कवियों की रचना में मिलती है। निराशावाद छायावाद का अग बन गया और वर्त्तमान युग की विवशता और विषम परिस्थिति गीतो के रूप में फूट पड़ी।

कुछ लोग छायावाद के साहित्यिक पुनरुत्थान का म्बंध राष्ट्रीय जागरण से जोडते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय जीवन स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत था और वह जीवन के किसी क्षेत्र मे संकुचित रूढियो को मानने को तैयार नही था, उसी प्रकार छायावादी कवि भी स्वतंत्रता चाहता था और किसी भी परपरा से अपने को सीमित करने को तैयार नही था। जिस प्रकार राष्ट्र-जीवन मे विविध प्रयोग हो रहे थे उसी प्रकार छायावादी कवि भी काव्यक्षेत्र में नवीन तथा मौलिक प्रयोगो मे सलग्न थे और परपरावादियो की आलोचना पर ध्यान नही देते थे। ऊपर से तो यह कथन ठीक प्रतीत होते; हैं फिर भी काव्य युग की गहराई तक न पहुँच सका और न उसमें उतनी व्यापकता ही आ

सकी। समय की गति अत्यन्त वेगपूर्ण थी और देश को नवीन दिशा की ओर प्रेरित करनेवाली शक्तियो को इन कवियो के समाधिभग तक ठहरने का अवकाश न था। द्वितीय महायुद्ध ने बड़े उलट-फेर किये। पूँजीपतियो की अन्तर्राष्ट्रीय शोषण की नीति का नग्न स्वरूप उसने दिखा दिया। राष्ट्रीय जीवन का असंतोष अभी सभी दिशाओं—सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मे भभक उठा और शोषक तथा शोषित का भाव अत्यन्त उग्रता से सामने आया। फलतः काव्यक्षेत्र में नवीन भावनाओ से प्रदीप्त कवियों ने साहित्य मे एक नये युग का आरभ किया, जिसके उद्देश्य तथा आदर्श छायावादी काव्य से सर्वथा भिन्न थे। समय की प्रगति का ध्यान रखने के कारण इनके काव्य को प्रगतिशील की सज्ञा मिली।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण में केवल छायावाद की कुछ विशेषताओं को बताने और उनके विश्लेषण का प्रयास किया गया है, सारे छायावादी साहित्य का इतिहास नहीं प्रस्तुत किया गया। काव्य में इसकी प्रवृत्तियो की झलक अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है; इसलिये कविता और कवियो की ओर संकेत अनिवार्य हो गया। काव्य के अतिरिक्त कहानी के क्षेत्र में 'प्रसाद' और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' प्रमुख हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यासों मे नायकों के चरित्र में जो व्यवहार की विलक्षणता मिलती है, वह छायावाद का ही प्रभाव है। इलाचंद्र जोशी की अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति और विश्लेषण भी इसी का संकेत देता है। आलोचना के क्षेत्र में प्रभाववादी और भावक कृतियाँ भी इसी का प्रभाव प्रकट करती हैं।

प्रो० नंददुलारे बाजपेयी—

आधुनिक कविता में छायावाद*

साहित्य की परम्परा मे लक्षण-ग्रंथो का निर्माण, लक्ष्य ग्रंथो के सृजन के उपरांत, उन्हो का आधार लेकर हुआ करता हैं। पहले साहित्य की उत्पत्ति हो जातो है, पीछे उसकी समालोचनाएँ लिखी जाती हैं। नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि से लेकर हिंदी के पिछले खेवे के अलंकार-शास्त्रियो तक, सबने इसी नियम का पालन किया है। इसका यह मतलब नही कि समालोचक अपने आलोच्य विषय के बंधन मे जकड़ा रहे, उसे स्वतंत्र रीति से कुछ कह सकने का अधिकार ही न हो; परंतु इसका यह भी मतलब नही कि मूल विषय से बादरायण संबंध रखनेवाली अप्रासंगिक कल्पनाएँ की जायँ, और ऐसे सिद्धांतों का संग्रह किया जाय, जो प्रस्तुत विषय से एकदम असंबद्ध

---

* [यह लेख सन् १९२९ की 'माधुरी' के विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों लेखक विद्यार्थी जीवन में ही थे। उस समय तक छायवाद काव्य के संबध में बहुत थोडी विवेचना हुई थी और अधिकांश विद्वान् उसके विपक्ष में ही थे। लेखक ने इस लेख में छायावाद काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है।]

हो। हिंदी मे अब तक यही हो रहा है। छायावाद के संबंध में जितने लेख देखने मे आए हैं, सबमे बातें तो बडी-बडी कही गई है; पर कही तो गूढ़ दार्शनिक तत्त्वो की उलझन मे पडकर प्रकृत विषय का परित्याग कर दिया गया है, कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं की व्यर्थ उद्भावना की गई है, और कही योरपीय साहित्य की समालोचनाएँ हिंदी के छायावाद के संबंध मे चरितार्थ की गई हैं।

छायावाद के संबंध मे लिखते हुए हिंदी के उदीयमान समालोचको ने बडी-बडी आतंककारिणी बाते कह डाली हैं। छायावाद किसी विश्वव्यापी आदोलन का एक अंग है। उसका संबंध समस्त संसार को आप्लावित कर देनेवाली किसी वेगवती साहित्य-धारा से है। उसकी गणना उन दो-एक आध्यात्मिक जागृतियों के समकक्ष होनी चाहिए, जिनके कारण समाज का जीवन-स्रोत कुछ-का-कुछ हो जाता है, और जो संसार के इतिहास मे अनेक बार नहीं आई—ये और ऐसी ही अन्य बाते बडी सुगमता के साथ एक ही साँस में कह डाली गई। इतना ही नहीं, जब जबान बेलगाम हुई, तब आप 'हिंदी के उमर खैयाम हैं. आप रवीद्रनाथ से कम नही हैं, आप ऐसे हैं, और आप वैसे हैं' की अनर्गल व्यंजना के साथ 'इनमे नब्बे प्रतिशत रहस्यवाद है, ये हृदयवादी हैं, ये प्रतिबिंबवादी हैं, ये संकेतवादी हैं' की सांप्रदायिकता भी आ मिली, और अपनी-अपनी डफली से अपना-अपना राग अलापा जाने लगा। यह एक बहुत बड़ी साहित्यिक उच्छृखलता का काल था; और अब भी वह दूषित वायुमंडल हमारे साहित्याप्रकाश से दूर हो गया है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता।

जहाँ एक ओर इस प्रकार की बात की करामात दिखाई जा रही थी, वहीं समालोचकों की एक शैली ऐसी भी थी, जिसमें कुछ तो परंपरागत संस्कारों के वशीभूत होकर और कुछ बढ़ती हुई उच्छृंखलता से क्षुब्ध होकर नवीन कविता का विरोध किया गया और यहाँ तक लिखा गया कि छायावाद में कोरी नकल ही नकल है, रवींद्रनाथ, शेली और ब्लेक के अतिरिक्त उसमें कुछ है ही नहीं, उसकी सृष्टि अनधिकारियों ने की है, जिन्हें न व्याकरण के नियमों की परवाह है, और न छंद-शास्त्र का लेश-मात्र ज्ञान है। घात-प्रतिघात के नियमों के अनुसार यह स्वाभाविक ही था कि एक दल द्वारा अत्यधिक प्रशंसित कविता को दूसरे दल द्वारा अत्यधिक कुत्सित प्रदर्शित करने की चेष्टा होती, और वास्तव में यही हुआ भी। परिणाम में जो तू-तू मैं-मैं मची, उसकी शृंखला अब तक टूटी नहीं है। 'पाखंड-प्रतिषेध', 'पाखंड-परिच्छेद', 'रूपमय हृदय' आदि आलोचनाएँ, जो कविता के आवरण में निकलीं, अभी कल ही की तो हैं। इनकी लड़ी अभी पूरी कहाँ हुई है ?

हाँ, इस खींचतान से एक लाभ अवश्य हुआ कि इससे उन समीक्षकों को ठहरकर विचार करने का अवसर मिला, जो सत्समालोचना के प्रयासी थे, और जिन्हें साहित्यिक दल-बंदी से सच्ची अरुचि थी। हाल के दो-एक निबंधों में जो तत्त्वान्वेषण की सच्ची प्रेरणा का आभास मिलता है, वह इसी के परिणाम-स्वरूप। 'विषस्य विषमौषधिः' की कहावत यहाँ ठीक-ठीक पूरी उतरी यद्यपि साहित्य के इतिहास में यह कोई नई या अनहोनी बात नहीं कही जा सकती।

छायावाद के संबध मे लिखता हुआ मै सभवतः एक भी आतककारिणी बात न कह सकूँगा। ससार की परम प्रसिद्ध आध्यात्मिक जागृतियो के साथ हिंदी की नवीन काव्य-प्रगति की तुलना करने और साधारण-से-साधारण कवियो को उमरखैयाम अथवा रवीद्रनाथ सिद्ध करने के लिए एक दूसरे प्रकार की लेखनी, एक दूसरे प्रकार के उत्साह की आवश्यकता है। मुझसे ऐसी आशा रखना व्यर्थ होगा। साथ ही छायावाद को कोरी नकल बतलाना, रवींद्रनाथ तथा शेली आदि से ही उसे अनुप्राणित समझना मेरी दृष्टि मे विशेष महत्व नही रखता। नवीन कविता की प्रतिदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता अकेली यह सिद्ध कर रही है कि इसमे कुछ सार, कुछ-कुछ विशेषता अवश्य है—भले ही इसकी मात्रा बहुत अधिक न हो। अन्य शब्दों मे, मै छायावाद को पहले हिंदी के विकास की एक अवस्था-विशेष, पीछे और कुछ समझता हूँ। नीचे की पक्तियों मे उस पर इसी दृष्टि से विचार करने की चेष्टा की जायगी।

प्रारंभ मे दो-एक बाते स्पष्ट कर दी जायँ तो अच्छा हो। जो लोग साहित्य को देश और काल से परे कोई वस्तु समझते हों, उनकी बात दूसरी है। मै उन लोगों मे नहीं हूँ। मै तो विशेष प्रतिभाशाली पुरुषों के लिए देश और काल की निरपेक्षता को एक सीमा तक स्वीकार करता हुआ भी साहित्य के साधारण विकास में उसके प्रभाव को अस्वीकार नहीं कर सकता। राजनीतिक, सामाजिक तथा साप्रदायिक परिस्थितियों से साहित्य का चिरकालिक सबध है; विदेशी प्रभाव भी पड़ते हैं। वाह्य परिस्थितियो के साथ मिलकर ही कवि की अतःप्रवृत्ति

साहित्य का सृजन करती है, अन्यथा समाज के विकास के साथ साहित्य के विकास का मेल ही न मिले। ऐसा बहुत कम देखा जाता है।

हिंदी-कविता मे छायावाद का विकास अत्यंत आधुनिक है। 'छायावाद' नामकरण तो अभी कल की बात है। छायावाद के अनेक कवि अभी अपने प्रौढ़ साहित्यिक जीवन तक भी नहीं पहुँचे हैं। ऐसी अवस्था मे उनके गुण-अवगुणो का विवेचन अथवा साहित्य मे उनका स्थान-निर्द्धारण बहुत सगत न होगा; क्योकि अभी उनमे निरतर परिवर्तन होते जा रहे हैं। यहाँ विषय के इस अग पर प्रासगिक रीति से ही विचार करना उचित होगा; प्रधानता छायावाद के स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण की ही रहेगी। अतिम बात यह कि स्थल सकोच के कारण बहुत विस्तार मे जाकर छायावाद की उन सूक्ष्म-सूक्ष्म प्रवृत्तियों का उल्लेख न हो सकेगा, जिनके चिह्न तो साहित्य मे दिखाई देते हैं, पर जिनका कोई महत्व-पूर्ण स्थान उसमें नही दिखाया जा सकता। स्थल-सकोच के कारण ही अनेक कवियो का नामोल्लेख भी न हो सकने की संभावना है।

प्रारंभ में परिभाषा की खोज होती है। आज हम जिसको छायावाद की कविता कहते हैं, वह क्या कोई एक वस्तु है? ऐसा तो नहीं है। थोड़ी-सी भावात्मकता, थोडी-सी साकेतिकता और थोड़ा-सा रहस्य, थोड़ी-दुरूहता, थोड़ी-सी कोमलकांत पदावली और थोडा-सा अतीतानुराग, थोडा-सा प्रकृति-प्रेम, थोडी-सी चच्छृखलता—इस प्रकार थोडी-थोडी अनेक वस्तुएँ उसमें सम्मिलित हैं। ऐसी अवस्था मे या तो हम इस अनेकरूपता को ही लक्षण मानकर इसे ही छायावाद की कविता

की परिभाषा कह दे, अथवा परिभाषा लिखने का प्रयास ही न करे। यही दो उपाय हैं। इसमें से प्रथम संगत नही; क्योंकि अनेक-रूपता को ही संकलित एकरूपता कहकर लक्षण स्वीकार करना हमको परिभाषा-निरूपण के पथ में आगे नहीं बढाता। द्वितीय तो स्वाभावतः निषेधात्मक है, उसके संबंध में यहॉ कुछ भी कहना प्रयोजनीय नहीं। सारांश यह कि छायावाद की कविता की कोई निश्चित व्याख्या नही की जा सकती। परतु इसका यह मतलब नही कि छायावाद की कविता को आध्यात्मिक कविता या रहस्यात्मक कविता कहकर बला टाल दी जाय। हमारी दृष्टि मे एकांगदर्शिता से व्यापकवाद कही श्रेष्ठ है, चाहे वह व्यापकवाद निषेधात्मक ही हो।

जहॉ व्याख्या नहीं की जा सकती, वहॉ समालोचक-गण स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण का प्रयास करते हैं। किसी वस्तु का स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण उसके अंग प्रत्यंग के प्रदर्शन-पूर्वक उसका संश्लिष्ट चित्र खडा कर देने से हो सकता है। संश्लिष्ट योजना पर मैं अधिक जोर देता हूँ। जिस प्रकार किसी वाटिका के स्वरूप प्रत्यक्षीकरण में उसके विविध फूलो और लताओं का नाम ले लेने-भर से काम नही चल सकता, उसके चतुर्दिक कौन-कौन सी वस्तुऍ हैं, किसने उसका निर्माण किया है, किन-किन मालियो ने उसकी कैसी सेवा की है, उसमे किस प्रकार के पुष्पों की कमी और किसकी प्रचुरता है, किस पुष्प मे कैसी सुगंध है, किसकी पोषक लताऍ कैसे जल से सीची जाती हैं, वाटिका की वर्तमान अवस्था कैसी है और भविष्य मे कैसी रहने की संभावना है—इन सब बातो के उल्लेख से ही सच्चा स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण संभव

है। उसी प्रकार छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करने में भी उसकी उत्पत्ति की परिस्थितियो, उसकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं, उसके विकास-क्रम, उसकी वर्तमान अवस्था तथा भविष्य के सभावित स्वरूपो आदि का विवेचन आवश्यक है। हॉ, इस विवेचन मे निरतर ध्यान रखने की बात यह होगी कि जैसे हाथ, पैर, नाक, कान आदि शरीर के अनेक अवयय एक शरीर के सघटन में अपनी सार्थकता रखते और एक मन का संचालन स्वीकार करते हैं, वैसे ही छायावाद के स्वरूप-प्रत्यक्षीकरण में सहायक बाह्य उपकरणो की मूलभूत उस चैतन्य संचालिका शक्ति का सम्यक् प्रदर्शन हो, जिसके वशीभूत ये सारे बाह्य उपकरण हैं। अन्य शब्दो मे, छायावाद की विविधि प्रवृत्तियों के समीकरण—उनके समन्वय का प्रयास भी यथासंभव होना चाहिए, अन्यथा बिगड़े परिवार के विविध व्यक्तियो की तरह वे सब विशृंखल रहकर किसी उच्च उद्देश्य की पूर्ति न कर सकेगी।

फ्रांस की जगत्प्रसिद्ध राज्यक्राति का कारण पूछने पर एक दूरदर्शी पंडित ने बाबा आदम को ही सारी खुराफात की जड बतलाते हुए कहा था कि यदि उसने शैतान के बहकावे मे आकर वर्जित फल न चख लिया होता, तो पृथ्वी पर न तो प प का प्रवेश होता, और न फ्रास की राज्यक्रांति होती। वास्तव मे पंडित को सूझी बडी दूर की थी। हिंदी मे छायावाद की उत्पत्ति का अनुसंधान करते हुए कुछ समालोचकों ने भी ऐसी ही दूरदर्शिता दिखाई है। वे कहते हैं—जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जिनमे मनुष्य की आत्मा अपने अस्तित्व का विस्मरण कर विश्वात्मा में लीन हो जाती है, उक्त कुछ क्षणो मे उसकी जैसी कुछ

भावनाएँ होती हैं, उन्हे जब काव्य का स्वरूप मिलता है, तब वही रहस्यवाद या छायावाद कहलाता है। कहने का मतलब यह कि यदि मनुष्य के जीवन मे कुछ क्षण ऐसे न होते, जिनमें वह विश्वात्मा के साथ अपनी एकरूपता का अनुभव करता, तो हिंदी मे जो छायावाद की कविताएँ दिखाई देतो हैं, वे न दिखाई देतीं। कितनी अकाट्य उक्ति है! कितनो बडी बलंदखयाली! इसमे कितनी दार्शनिकता है!

परतु फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाबाआदम से भी बडे-बडे कारण थे जिसका उल्लेख आज डेढ सौ वर्षों से सैकडों प्रसिद्ध इतिहास-लेखक करते आ रहे हैं। तत्कालीन राज्यशासन की नृशसता, क्रांतिकारी विचारों के प्रचार से सम्पन्न सामूहिक जागृति, उपयुक्त सयोग आदि-आदि अनेक कारण बतलाए जा चुके हैं, और अब तक अनुसंधानों का क्रम बना हुआ है। यह ऐतिहासिक विचारधारा है। छायावाद की उत्पत्ति पर विचार करने के लिए उपयुक्त दार्शनिकता की अपेक्षा हमको इस प्रकार की विचारधारा की आवश्यकता अधिक है। यदि सच पूछा जाय, तो हमारे दार्शनिक समालोचक जिसे छायावाद या रहस्यवाद कहते हैं, उसका अस्तित्व हमारी आधुनिक कविता मे इतना अधिक नहीं कि उसके सामने अन्य प्रकार की कविताएँ (जो छायावाद की कविताएँ कहलाती हैं, पर दार्शनिक छायावाद से जिनका कोई संबंध नही) नगण्य हों, या गौण स्थान की अधिकारिणी हों।

'जिस दिन भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने 'भारत-दुर्दशा' नाटक के प्रारंभ मे समस्त देशवासियो को संबोधित करके, देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बनाने को आमंत्रित किया था, उस दिन

का ठीक-ठीक अनुसंधान करना अब कठिन है; पर यदि उसका पता लग सके, तो इस देश के अथवा कम-से-कम हिंदी-साहित्य के इतिहास में वह किसी अन्य महापुरुष के जयंती-दिवस से किसी प्रकार कम महत्व-पूर्ण नहीं हो सकता। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी, उस दिन छिन्न-भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था, उस दिन देश और जाति के प्राण तक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई थी, और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनोवृत्तियों का अंत करने के लिए स्वयं सरस्वती ने राष्टभाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ मे बैठ कर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वासित की थी। मुक्तकेशिनी शुभ्रवसना परवशा भारतमाता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी, और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक वज्र गंभीर झनकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास मे वह नाच उठा था। वह दिवस निश्चय ही परम मंगलमय था; क्योंकि आज भी उसका स्मरण कर हम अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। यदि सच पूछा जाय, तो उसी दिन से एक नवीन चेतना हमारे साहित्य को मिली, और उसी दिन से उसके दिन फिरे। आज हम जिस साहित्यिक प्रगति पर इतने प्रसन्न हैं, उसका बीजारोपण इसी शुभ दिवस को हुआ था। छायावाद की वर्तमान काव्य-धारा की मूल स्रोतस्विनी भी तत्कालीन सर्वतोमुखी नवजीवन को पाकर सलिलवती हुई थी।'

स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चद्र आदि के उद्योग से सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची, उसके परिणाम-स्वरूप सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई जनता मे शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू-फारसी की ओर प्रवृत्त करने-वाली प्रेरणा स्वामी दयानद से अधिक मिली, और हिंदी-अँगरेजी की पढ़ाई तो कुछ पहले से ही प्रारंभ हो चुकी थी। पडोस मे होने के कारण उन्नतिशील बॅगला-भाषा की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान लगभग उसी समय से खिंचा। इस जोरदार शिक्षा-प्रचार का जो प्रभाव राजनीतिक अभिज्ञता, सामाजिक जागृति, धार्मिक चेतना आदि के रूप मे पडा, वह तो पडा ही, हिंदी-साहित्य-क्षेत्र भी उसके शुभ परिणाम-स्वरूप अनत उर्वर हो उठा। सारा साहित्य नवीन प्रकाश से परिपूर्ण होकर ज्योति की शत-सहस्र किरणे विकीर्ण करने लगा। हमारी कविता भी सजग हो उठी। वह अपनी स्थविरता का परित्याग कर आगे बढ़ी, और सामाजिक प्रवृत्तियो के अनुकूल रूप-रग बदल शिक्षित जनता के साहचर्य मे आई। स्वय देवी सरस्वती ने अपने अलौकिक कर-स्पर्श से कविता-कामिनी को सुवर्णमयी बना दिया था। फिर भला भक्ति-गद्‌गद् भाव से घर-घर उसकी आरती क्यो न उतारी जाती, क्यों न उसकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरो मे हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर दी जाती

शिक्षित समाज के समकक्ष पहुँचने में हिंदी-कविता को जो रूप-रंग बदलने पडे, उसका कुछ विवरण देने की आवश्यकता होगी; क्योंकि यही विवरण प्रचलित छायावाद की कविता के विकास का प्रारंभिक

इतिहास है। हिंदी के अनेक समालोचकों ने जान-बूझकर अथवा भ्रम में पड़कर इस सबंध में बहुत-सी भ्रामक बातें कह डाली हैं, जिसके कारण छायावाद की कविता कभी कुछ और कभी कुछ तथा कभी-कभी कुछ की कुछ समझ पड़ती हैं। एक नवीन अलोचक को 'वर्तमान हिंदी-कविता और छायावाद' शीर्षक लेख के उस अंश मे, जहाँ प्राचीन और नवीन कविता का अंतर दिखाया गया है, मेरे मत से कुछ इसी प्रकार भ्रम हो गया है। प्राचीन और नवीन मे भेद बतलाते हुए उन्होने यह कहा है कि एक मे सौंदर्य और प्रेम की शरीरिकता और दूसरे मे उसके आंतरिक रूप के प्रदर्शन का प्रयास है। यह कथन बहुत-कुछ सत्य का तिरस्कार करता है, पर यहाँ इसके आक्षेप से प्रयोजन नही। परंतु प्राचीन और नवीन के उपर्युक्त भेद के आधार पर जब वे कहते हैं कि इस 'अंतर के कारण ही इन दोनो स्कूलों के कवियो की वर्णन-शैली और प्रणाली मे भी भेद है; पुराने ढंग के कवि कथा की भाँति लिखते हैं, वर्णन करते है और नए ढंग के कवि आंतरिक उच्छ्वास को स्वयं अनुभव करने की चेष्टा करते हैं'—तब उनका भ्रम मूर्तिमान् प्रत्यक्ष देख पड़ता है। वे वर्णनात्मक कविता को स्थूल प्रेम के प्रकाशन के उपयुक्त तथा आत्माभिव्यक्ति-विषयक कविता को सूक्ष्म प्रेम या 'प्रेम के आंतरिक रूप' को प्रदर्शिका कहकर इन दो श्रेणियो की कवि-परंपरा के साथ जो अन्याय करते हैं, वह तो करते ही हैं, साथ ही वे इस कथन से कविता के मूल मे स्थित मनोवृत्ति से अपनी अनभिज्ञता भी सिद्ध करते हैं। इतनी अधिक वर्णनात्मक कविताओ मे सौदर्य तथा प्रेम के सूक्ष्म रूप का चित्रण हुआ है, इतनी अधिक आंतरिक उच्छ्वास

संबंधिनी कविता से कलुषित, शरीरजन्य प्रेम के फुहारे फूटे निकले हैं, इतने अधिक कवियो ने उपर्युक्त दोनो शैलियो मे रचनाएँ की हैं कि न तो उद्धरणो की आवश्यकता रह जाती है, और न कुछ कहने-सुनने की ही।

सच बात तो यह है कि अँगरेजी के अध्ययन के कारण उसकी 'लिरिक्स' की ओर हमारी प्रवृत्ति अधिक हुई और उन्ही के अनुकरण से हमारी आधुनिक कविता मे आत्माभिव्यंजन की प्रधानता है। यहाँ अनु-करण से हमारा अभिप्राय शैली के अनुकरण से है। इसे स्वीकार करने मे असमंजस की कोई बात नही। कविता के कला-पक्ष में—शैली आदि में, हिंदी को अन्य भाषाओं का ऋण मान लेना पडेगा। संस्कृत की तो कोई बात नही, उर्दू और बँगला के कितने ही छंद हिंदी ने उधार लिए हैं। नवीन कविता का 'हृदयवाद' भी संस्कृत के मुक्तको तथा उर्दू की 'दर्द-भरी' गजलों के ढंग का है। कवित्व कम और 'चोट' अधिक—यह इसकी विशेषता है। इसका यह मतलब नही कि इस क्षेत्र मे हिंदी की मौलिकता का बिलकुल लोप हो गया। हिंदी-कविता के उस क्रांति-युग में एक बडी मौलिकता व्रजभाषा के परित्याग और खडी बोली के ग्रहण के रूप मे दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त निरंतर भाषा-सस्कार, अनेक नवीन हिंदी-छंदों का निर्माण, मात्रिक छदो मे अतुकांत कविता की रचना आदि इस क्षेत्र की महत्व-पूर्ण मौलिक कृतियाँ हैं। 'निरालाजी' के स्वच्छंद छद के रूप मे भी हिंदी को एक बहुत बडी मौलिक वस्तु मिली है।

कविता के कला-पक्ष के परिवर्तनो का साधारण उल्लेख कर

चुकने पर उसके भाव-पक्ष पर विचार करने की बारी आती है; परंतु छायावाद या रहस्यवाद के संबंध मे कुछ ऐसे मत प्रकट किए गए हैं, जिसके कारण यहाँ ठहरकर कुछ विचार करने की आवश्यकता होगी। हिंदी के कुछ विद्वान् रहस्यवाद को एक विशेष काव्य-परंपरा न मानकर केवल भावों के व्यक्त करने की शैली-मात्र मानते हैं, और "अन्योक्ति", "समासोक्ति", "ललित" आदि अलकारों में ही तमाम रहस्यवाद का पर्यवसान कर देते हैं। रहस्यवाद को ध्वनि-काव्य कहकर वे उसकी आध्यात्मिक व्यजना स्वीकार करते हैं, किंतु एक स्वतत्र विचारधारा के रूप मे वे उसे नही ग्रहण करते। "सरस्वती" पत्रिका की संपादकीय टिप्पणियों मे श्री सुमित्रानदन पत की कविताओं का विवेचन करते हुए, आज से कुछ महीने पहले एक प्रसिद्ध आलोचक ने उन्हे विस्मयवादी कवि ठहराया था। मुझे स्मरण आता है, इस आलोचना मे भी शैली के आधार पर ही ऐसी बात कही गई थी। मै अपने मत का स्पष्टीकरण कविताओं के उद्धरण देकर करना चाहता हूँ—

१. स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब ससार चकित रहता शिशु-सा नादान ;
विश्व के पलकों पर सुकुमार विचरते है जब स्वप्न अजान।
न-जाने नक्षत्रों से कौन,
निमंत्रण मुझको देता मौन !
(पंत)

२. चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर;

मैने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड लगाई।
(प्रसाद)

३. तुम हो प्रियतम मधुमास, और मै पिक, कल-कूजन तान,
तुम मदन पंचशर-हस्त, और मै हूँ मुग्धा अनजान;
तुम अंबर, मै दिग्वसना;
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मै तडित्तूलिका रचना। ('निराला')

यदि 'सरस्वती' के उपर्युक्त टिप्पणी-लेखक को ये तीनों रचनाएँ परीक्षार्थ दी जायँ, तो वे पहली रचना को विस्मयवाद के अतर्गत रख सकते हैं—रक्खेंगे; परतु शेष दोनों रचनाओं के साथ उनका कैसा व्यवहार रहेगा, नहीं कहा जा सकता। सभवतः उनके लिए किन्हीं अन्य 'वादों' की शरण लेनी पडेगी; क्योंकि शैली-भेद तो स्पष्ट ही है। परतु एक रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की ओर सकेत होने के कारण मेरे मत से तीनों रचनाएँ रहस्यवाद की हैं। एक में उस सत्ता से संयोग-जन्य आभास है, दूसरी मे दीनता अथवा आत्मग्लानि की व्यंजना है, और तीसरी में आत्म-निवेदन की ध्वनि। तीनों में इतना अंतर होते हुए भी आंतरिक अनुभवजन्य साम्य है। इसी साम्य के आधार पर मैं, रहस्यवाद की कविता को भाव-प्रकाशन की शैलीमात्र समझनेवाले समालोचकों से सहमत न होने को विवश हूँ।

मैं छायावाद की कविता के भाव-पक्ष पर कुछ कहना चाहता था,

प्रसग-वश यह शास्त्रीय विवेचन करना पडा। "शास्त्रीय" इसलिए कि लोक-प्रचलित "छायावाद" शब्द किस प्रकार आधुनिक ढग की सभी कविताओ के लिए प्रयुक्त किया जाता है, उससे भिन्न प्रकार का प्रयोग ऊपर की कुछ पक्तियो मे किया गया है। उपर की कुछ पंक्तियो की छोड़कर शेष सर्वत्र मैने छायावाद का उपर्युक्त व्यापक अर्थ लिया है, और इसी लेक-प्रचलित अर्थ मे इस शब्द को स्वीकार कर लेना मुझे उचित भी समझ पडता है। भारतेदु हरिश्चद्र द्वारा साहित्य के नवजीवन संचारित होने तथा कई शताब्दियो से अंधकाराच्छन्न देश मे शिक्षा की नवीन ज्योति फैलने की बात पहले ही कही जा चुकी है। यह नवीन ज्योति पाकर समाज ने सजग होते ही अपनी स्थिति देखी। उसने अपने अतीत की तुलना अपनी तत्कालीन अवस्था से की, और दोनो के बीच एक दुर्लघ्य खाई की कल्पना से वह कॉप उठा। जो देश कभी अपनी स्वतंत्रता का उपयोग दीन-दुर्बल राष्ट्रों की रक्षा मे करता था, जिसने अपने अस्तित्व की सार्थकता ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल के निरंतर विकास मे समझ रक्खी थी, आज वही पराधीन होकर अपनी मुक्ति का मार्ग भी नही पा सकता। जिस देश में सर्वप्रथम विश्व-मैत्री-जैसे उच्चादर्शों की कल्पना की गई थी, आज वही शत-सहस्त्र खंडों मे विभक्त होकर पारस्परिक वैमनस्य का केद्र बन रहा है। जहॉ स्त्रियों की पूजा होती थी, जिस देश मे नवागता वधू को 'गृहस्वामिनी' की आदरणीय उपाधि मिलती थी, आज वही देश अपनी स्त्रियों का डंडों से सत्कार करना सीख गया है। जिस शस्यश्यामल भूमि में किसी ने कभी

अकाल का नाम नहीं सुना था, वहाँ आज किसी को भर-पेट भोजन भी नही मिलता। जहाँ सुख था, शांति थी, स्नेह और आनद था, आज वहाँ हाहाकार के सिवा और कुछ भी नहीं। जो कभी ऋषियों की तपोभूमि थी, जहाँ ऋषि-कन्याएँ मृगशावको के साथ खेलती-कूदती रहती थी आज वही बडे-बडे नगर बस गए हैं, जिनमे विलासिता की पुतलियाँ रहती हैं, और रहते हैं ऐसे मनुष्य जो मनुष्यता के लिए कलंक हैं। जिन ग्रामों मे दिन भर के काम से थके हुए मनुष्य सध्या समय दीपक जलाकर परिवार के साथ किसी धार्मिक पुस्तक के पाठ का आनंद उठाते थे, वे सबके-सब आज उजड गए। कोई किसी को सात्वना देनेवाला नही, कोई किसी की बात पूछनेवाला नही। यह भी कोई देश है, यह भी कोई रहने की जगह है, यह भी कोई जीवन है।

इस युग की कविताओ मे करुणा की एक क्षीण आभा सर्वत्र व्याप्त मिलती है, कही-कही इसी करुणा की शक्ति से मृदुल, रहस्यमयी उक्तियाँ भी कवि-हृदयो से निकल पडी हैं। देखिए—

सजनि ! कहाँ अब वह वशीवट, कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ कहाँ वह वृंदा धाम ?
—(निराला)

कहाँ—कहाँ वह पूर्ण-पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगत छवि-जाल
ज्योति-चुंबित जगती का भाल ? —पंत

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
—'प्रसाद'

मुझे चाहिये आर्द्र हृदय का प्यार, नयन के ही मोती दो चार ;
मेरे लिए कोटि कल्याणी है केवल करुणा की वाणी ।
—रामअवध द्विवेदी गजपुरी

देश की ऐसी बिगडी हालत देखकर किसका हृदय द्रवित न होता, किसकी इच्छा स्थिति को सुधार कर उस सुख-शांति की स्थापना करने की न होती, जिसका स्वप्न-मात्र अवशेष रह गया था। वसंत किसे अप्रिय होता है, सौरभ से किसका जी सिक्त नहीं होना चाहता ? फिर इस देश ने तो कभी भले दिन भी देखे थे । कहाँ तो आर्य-सभ्यता की गोद में पला सुख-समृद्धिपूर्ण देश, और कहाँ पराधीनता के पाश मे बँधा, सामाजिक विद्रोह से पीड़ित, नैतिक पतन का शिकार आर्थिक दुरवस्था का अटल केंद्र, संतप्त, श्रांत, शिथिल उसका अस्थि-पंजर ! भयानक आंदोलन उठ खडा हुआ एक क्षेत्र में नहीं - प्रत्येक क्षेत्र मे; एक उद्देश्य से नही—अनेक उद्देश्य से, अनेक उपायो का अवलंबन करके । साहित्य मे इन अनेक प्रवृत्तियों की झलक दिखाई देती है—आधुनिक हिंदी-कविता की सबसे बडी विशेषता है उसका विस्तार, उसकी सर्वतोमुखी व्यापकता, सार्वजनीनता ।

राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित 'नवीनज' की 'विप्लव-गायन' शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध है । क्रांतिकारी भावना से भरी मेरे मित्र

श्री रामअवध द्विवेदी की लिखी हिंदी की एक उत्कृष्ट कविता और है—

मै कवि हूँ, मेरे जीवन का मूल मंत्र है क्रांति।

× × × ×

ज्यों-ज्यों बढती है मेरे अंतरतर की व्याकुल ज्वाला।
ज्यों-ज्यों पीता हूँ मै पागल कर देनेवाला प्याला।
हृदय-सिंधु मंथन करता है जब मेरा विषाद का वात,
तब मेरा अस्तित्व काँप उठता है सह निर्दय आघात।
जीवन की रजनी में उठती है जब मेघों की माला,
तिमिरि-अंक में जब कि थिरकती है चपला अति विकराला।
उसी समय झंकृत हो उठते हैं मेरे प्राणों के तार;
अग्नि-शिखा को पहनाता हूँ मै कोमल कुसुमों के हार।
मेरे गायन में दो लय हैं दुहरी गति दो राग,
सतत धधकती हुई आग हैं, मलय-मृदुल अनुराग।
मैं रवि हूँ, पावक हूँ, शशि हूँ शीतल, सुमन सुवास,
अटल शक्ति हूँ, किंतु निहित है मुझमें हास-विलास।

समाज की अनेक कुरीतियों पर जैसी भावुकता-पूर्ण रचनाएँ श्री सियारामशरण की 'आर्द्रा' नामक पुस्तक मे हैं, हिंदी में वैसी अन्यत्र नही हैं। उनकी 'अछूत', 'अग्नि-परीक्षा' आदि कविताएँ हृदय की कोमल वृत्तियों का जिस तीव्रता से उद्रेक करती हैं, उसका अनुभव सहृदय पाठक करते ही होंगे। गुप्तजी की भाषा भी सरल, सुन्दर और विषय के उपयुक्त है।

प्राचीन तपोवनी मे विचरण करने की इच्छा रखनेवाले आधुनिक बीभत्स नागरिक जीवन से क्षुब्ध हों, तो आश्चर्य क्या है ? यह उन्हीं की पुकार है—

आओ-आओ नगरवन्हि से तप्त नागरिक निर्जन में,
यहाँ एक सरिता बहती है जिसकी लोल लहरियों में—
अवगाहन कर शीतल हो ले जिसका जितना जी चाहे,
रुचिर कूल की रम्य लताएँ रत रहती रँगरलियों में।

इसी प्रकार की बहुत-सी कविताएँ सामयिक स्थिति की प्रेरणा से लिखी गईं, जिनका विस्तृत विवरण स्थल-संकोच के कारण नहीं दिया जा सकता, केवल दो-एक संकेत ही किए जाते हैं। स्त्री-समाज के चिरकालिक पतन से क्षुब्ध हो, गोस्वामीजी की प्रसिद्धि पंक्ति 'ढोल गॅवार सूद्र पसु नारी, ये सब ताडन के अधिकारी' के प्रतिवाद-स्वरूप, मानों कविवर शेली के कंठ से कंठ मिलाकर पं० सुमित्रानन्दन जी पंत नारी-जाति को संबोधित करते हुए कहते हैं—

तुम्हारे गुण है मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान,
शक्ति, पूजन-सम्मान;
अकेली सुंदरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान।

इसी प्रकार सुप्त समाज की निद्रा-भंग का आयोजन 'निरालाजी' किन सुकुमार शब्दों में करते हैं—

जागो फिर एक बार,
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार।

× × ×

देश-काल से प्रेरित और प्रभावित होकर हमारी कविता का प्रवाह किस ओर जा रहा है, यह ऊपर संक्षेप मे दिखाया गया। परन्तु इन प्रभावो से परे भी साहित्य मे कुछ होना चाहिए वह जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। कहने का मतलब यह नहीं कि जो साहित्य देश और काल के अनुकरण मे बनता है वह स्थायी नहीं होता अथवा उसकी गणना निम्न कोटि में होती है। सच्चा कवि तो अपनी प्रतिभा के बल से क्षणिक परिस्थितियो मे भी स्थायी साहित्य के योग्य कल्पना करता है। किंतु इससे भिन्न जो दूसरे प्रकार का साहित्य है वह मनुष्य मात्र की भावनाओं से समान सामजस्य देखने के कारण अखिल मानव समाज की संपत्ति सहज ही हो सकता है।

प्रकृति मनुष्य की चिरतन सहचरी है। वायु के मृदुल वेग से धीरे-धीरे कलकल छलछल करते हुए बहनेवाले झरने, पहाड़ियाँ और बनराजि, नदी का मद प्रवाह, रात भर न सोनेवाले तारे, नील नभ, विस्तृत उद्यान, ये सब मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षण रखते हैं। इनमें सबकी वृत्तियाँ रमती हैं। इनके अतिरिक्त मानव-समाज के लिए कल्याणकर प्रेम, स्वदेशानुराग, विश्वैक्य आदि की भावनाएँ भी बड़ी स्वाभाविक हैं, कम-से-कम सभ्य मानव-समाज ने उन्हें स्वाभाविक-सा बना लिया है। इस प्रकार की मानव-सुलभ वस्तुओ तथा भावनाओं में

कविगण चिरकाल से लीन होते आए है, और छायावाद की आधुनिक हिंदी-कविता मे भी ऐसी रचनाएँ होने लगी हैं, जिनमें उक्त भावनाओ के प्रतिबिंब देख पड़ते हैं।

इस श्रेणी के तीन प्रधान कवि "प्रसाद", "निराला" तथा "पंत" हैं। इनके अतिरिक्त गोविंदवल्लभ, सियारामशरण, "वियोगी", "नवीन", भगवतीचरण आदि की थोड़ी-सी रचनाएँ ऊपर की पंक्ति तक पहुँचती हैं। स्त्रियो मे महादेवी वर्मा की गणना की जा सकती है, ऐसी कविताएँ लिखने का श्रेय प० माखनलाल चतुर्वेदी को भी दिया गया है।

उपर्युक्त तीन कवियों पर अलग-अलग निबंध लिखने-भर की सामग्री अनायास मिल सकती है, पर यहाँ बहुत संक्षेप में दो-चार बातें कही जा सकेंगी। "प्रसादजी" भारतीय सभ्यता तथा आर्य-संस्कृति की सच्ची जानकारी रखने के कारण हमारी युग-युग की संचित सामग्री के उत्तराधिकारी थे। इसके साथ उनके सच्चे कवि-हृदय ने मिलकर मणि-कांचन-सयोग को प्रत्यक्ष कर दिया है। जीवन की गहन अनुभूतियाँ व्यक्त करने मे उनकी कविताएँ समर्थ थीं, साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक भावनाओ पर भी उनकी अंतर्दृष्टि ठहरती है। बाह्य तथा आभ्यंतर प्रकृति का जैसा समीकरण "प्रसादजी" करते हैं, उसे देखकर मन मुग्ध हो जाता है। थोड़ी अवस्था मे लिखा हुआ उनका "प्रेमपथिक" विश्वमैत्री की भावना से ओत-प्रोत है। उनकी प्रारम्भिक कृतियो मे भी सुन्दर रहस्यमयी उक्तियाँ मनोमोहनी हुई हैं। पश्चात तो उनका काव्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया था।

"निरालाजी" हिंदी के श्रेष्ठ दार्शनिक कवि हैं। इस दृष्टि से वे अँगरेजी कवि ब्राउनिग से समता रखते हैं। दर्शन बुद्धिगम्य विषय है, और काव्य मे हृदय की वृत्ति काम करती है, इस दृष्टि से दर्शन और काव्य का मेल कम मिलता है, और इसी दृष्टि से कुछ पश्चिमी समालोचको ने दार्शनिक कविता मे कवित्व कम स्वीकार किया है, परतु अन्य आलोचको की राय इसके विपरीत है। स्वयं ब्राउनिंग के काव्योत्कर्ष के संबध मे पाश्चात्य समीक्षकों मे बडा भेद है। यहॉ इस वितडावाद से मतलब नही। यह दर्शनिकों का देश है। यहॉ की विद्या ब्रह्मविद्या है; "रसो वै सः" कहा भी है। इस देश की जलवायु के अनुकूल दार्शनिकता तथा कवित्व की सम्मिश्रित शक्ति लेकर विकसित होने के कारण "निरालाजी" की अनेक कविताएँ इस युग को हिंदी रचनाओं में अतुलनीय हुई है। उनकी "स्मृति", "बासती", "यमुने" आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इनमे कवि की उज्ज्वल भावराशि, गुम्फित दार्शनिक विचारो के संयोग से दुगनी चमक उठी है, जैसे मृदु अनिल-तरलित जल मे सबेरे की किरणें पडी हो। पर जहॉ कही निरालाजी की रचनाओं से दार्शनिकता का ही आधिपत्य होने के कारण कवित्व की कमी दिखाई पडती है, वहॉ सहृदयता से तकरार करनेवाली वे रचनाएँ बिलकुल अच्छी नहीं लगती।

"निरालाजी" की दूसरी बडी विशेषता उनकी कविताओं मे प्रकाशन तथा निर्वाह का गुण है। स्वयं समालोचक होने के कारण काव्य का विश्लेषण करने की उनमे बडी शक्ति है। अपनी इस शक्ति का उपयोग वे अपनी रचनाओं में बडी सफलतापूर्वक करते हैं।

"पंतजी" मधुर वाणी के बडे ही कोमल तथा सरस-हृदय कवि हैं। उनके गायन का मुख्य विषय प्रेम है, उनकी कविता की मूल रागिनी है सौंदर्य की विवृत्ति। "ग्रंथि", "उच्छ्वास", "आँसू", "अनंग" आदि उनकी अनेक रचनाओ मे प्रेम की विशुद्ध धारा बहती है। "पंतजी" की कई रचनाओं मे कवित्व पराकाष्ठा तक पहुँचा मिलता है। उनकी कल्पना-शक्ति तथा विषय के अनुरूप मूर्तिमत्ता की क्षमता आधुनिक हिंदी कवियो मे अद्वितीय तथा अधिकतर कविवर शेली के जोड की पाई जाती है। परतु कुछ छोडकर 'पंतजी' की रचनाओं में कल्पना की उडानों का हलकापन है—जीवन की गम्भीरता उतनी नहीं। उन रचनाओं मे "पतजी" मधुर कल्पनाओ के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे युवक-समाज के सर्वप्रिय कवि हैं।

प न्तु 'पतजी' की 'परिवर्तन'-शीर्षक कविता ? गम्भीरता-समन्वित उस की रचना मे मानो पंतजी का पुरुषत्व जाग उठा हो, मानो उनकी कोमलता जीवन के कठोर प्रहा ों के सामने क्षण-मात्र टिक न सकी हो। रवीद्रनाथ ठाकुर विगत महायुद्ध के बाद जब योरप गए, उन्होंने एक विशाल भूखड को उजडा हुआ, नग्न, क्षुब्ध पाया। उस समय सुना जाता है, उन्होने युद्ध की कल्पना एक विशाल राक्षस के रूप में की, जिसने सर्वसंहार बनकर, प्रदेश-का-प्रदेश चाटकर स्वाहा कर दिया था। पंतजी ने भी "परिवर्तन" में ऐसी ही अनेक कल्पना-मूर्तियाँ खड़ी की हैं, जो उनकी उच्च प्रतिभा की परिचायक हैं। पंतजी की यह रचना हिंदी-कविता का शृंगार है, इसमे कुछ भी सदेह नही। इस रचना मे कवि का दृष्टिकोण यद्यपि निराशावादी है किंतु उसकी आस्था साधना पर स्थिर और सुदृढ़ है।

यह हिंदी छायावाद कविता की त्रिमूर्ति है। इनकी गणना वृहत्त्रयी में की गई है—रचना-सौष्ठव के विचार से और विभिन्न क्षेत्रों मे मौलिक कृतियाँ उपस्थित करने के विचार से। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विभूतियाँ भी हैं, जिनका नाम ऊपर लिखा जा चुका है। पं० गोविंदवल्लभ पत की "हे अनजान विदेशी आज"–शीर्षक कविता चित्त मे अनोखा चमत्कार छोड जाती है। पंतजी, मालूम होता है, प्रकृति की रम्य गोद में पले हैं, और उनका जीवन उससे घुल-मिलकर एक हो गया है। सियारामशरणजी की 'हूक' कविता बडी करुण और मर्मस्पर्शिनी है। वियोगीजी के "कठोर-कर्तव्य" शीर्षक संवाद मे मनोवृत्तियों की मार्मिकता है, नवीनजी की "रक्षा-बंधन" कविता मुझे बड़ी अच्छी लगी। भगवती चरणजी की कविताएँ मुझे पहले से अपनी ओर खींच चुकी थी इधर "नूरजहाँ की कब्र पर" लिखी गई दुःखगाथा हिंदी में एक ही निकली। ये सब कवि हिंदी की भविष्याशाएँ हैं, इनकी उपर्युक्त रचनाएँ इस आशा का आधार।

———————

प्रो० विनयमोहन शर्मा—

रहस्यवाद-छायावाद

'रहस्य' का अर्थ है गुप्त-प्रच्छन्न—अव्यक्त और जिसमे गुप्त, प्रच्छन्न और अव्यक्त का उल्लेख है, वही 'रहस्यवाद' है। सावरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र मे प्रारम्भिक काल से रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। उपनिषदो मे उसी 'प्रच्छन्न' को देखने का कुतूहल है। रूप-जगत क्या है?—मैं (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत' किसकी सृष्टि है? वह (सः) कौन है? 'सः' 'जगत' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई 'श्रृङ्खला' है? ये प्रश्न है जो 'दर्शनों' मे अनेक तर्क-वितर्कमय उत्तरों के पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है, वह (सः) अनुभव किया जा सकता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, 'प्रेमिका के उसास भरे वक्षस्थल का जैसा कोई उन्मत्त प्रेमी आलिङ्गन करता है और उससे जो मीठा-मीठा कुछ भीतर ही भीतर घुरने लगता है; कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्य का अनुभव होता है'। बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है, वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कह कर रुक जाता है, सूफी एक उर्दू कवि के शब्दो मे उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है:—

"ज़ाहिद ! शराब पीने दे मसजिद में बैठकर ।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो ।"

वह अपनी सत्ता को उसी में खो देता है ।*

सूफी कवि रूमी ने सूफी ध्येय को एक उदाहरण द्वारा बडी सुन्दरता से समझाया है—

"किसी ने प्रियतम के द्वार को खटखटाया । भीतर से एक आवाज ने पूछा—'तू कौन है ?' उसने कहा—'मै' । आवाज ने कहा—'इस घर में....'मै' और 'तू' दो नहीं समा सकते ।' दरवाज़ा नहीं खुला । व्यथित प्रेमी वन मे तप करने चला गया । साल भर कठिनाइयॉ सहकर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया । उससे फिर प्रश्न हुआ—"तू कौन है ?" प्रेमी ने उत्तर दिया—"तू" । दरवाजा खुल गया ।+

'अद्वैतवादी' भी उसको अपने ही मे देखता है । इसीसे वह कहता है—"सोऽहम्"—'मै ही वह हूॅ ।' वह आत्मा मे ही परमात्मा को अधिष्ठित देखता है और जगत को 'मिथ्या' समझता है ।

---

* ' Sufi strives to lose humanity in beauty. Self annihilation is his watch word."

+सूफी कवि मलिकमुहम्मद जायसी ने भी कहा है—
हो हौं कहत सबै मत खोई । जो तू नाहिं आहि सब कोई—पद्मावत

उसका विश्वास है कि आत्मा पर माया का आवरण पड़ा* रहने से हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरण को विदीर्ण कर ही हम पर उसकी आभा का प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपने में अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनो ही जगत को मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगत के 'रूप' में परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। उसे वह परमात्मा के विरह में व्याकुल देखता है। इसी से परमात्मा तक पहुँचने के लिए वह भौतिक वस्तु के प्रति आसक्ति धारण कर प्रेम-विभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है, और साध्य भी प्रेम।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्म से पृथक् मानता है। वह अद्वैतवादी की तरह दोनों को एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्ति की कामना भी नहीं करता। अपने आराध्य को अपलक आँखो से देखते रहने और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखने मे ही अपने

---

* संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है'—मैत्रेयी उपनिषद्।

"यह संसार जिस वस्तु का बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मन की सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रम के निवारण के के लिए हमने जो प्रयास किए उनके परिणामस्वरूप संसार का ही निवारण हो गया क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे बडी भ्रम की वस्तु स्वयं संसार ही है।"—एडिंग्टन और जीन्स।

को कृतकृत्य मानता है।* उसे अपना 'आराध्य' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब' कुछ नहीं। वह धार्मिक ग्रन्थो में रजित स्वर्ग की कामना भी नहीं करता।

कुमारी अंडरहिल अपनी Essentials of Mysticism म लिखती हैं—We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' के इस रहस्य को खोजने का उद्देश्य क्या है। उसे जानकर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्द मे दिया जा सकता है। और वह है—"आनद'।+

सांसारिक सघर्षों से हटकर मनुष्य ऐसी स्थिति × में पहुँचना

---

*' कहा करौ बैकुंठ लै, कलप बृच्छ की छांह।
'अहमद, ढाँक सराहिये, जो प्रीतम गल बांह॥"—अहमद।

+'को जानै को जैहे जमपुर को, सुर पुर पर धाम को।
तुलसी बहुत भलो लागत जगजीवन, राम गुलाम को'—तुलसी।
(विनय-पत्रिका)

× रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। स्पर्जियन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—'Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere, rather than a system of philosophy."

चाहता है, जहाँ केवल 'आनन्द' की ही वर्षा होती है। जीवन के विविध ताप (दुख) पिघलकर बह जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं—

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन । जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।"

"यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न हुई है, आनन्द की ओर ही इसकी गति है और आनन्द में ही स्थिति।"

'दर्शन' की 'रहस्य'-भावना को 'काव्य' मे किस रूप मे अपनाया गया है, इसे हमें समझ लेना चाहिये और यही समझ कर हमें चलना चाहिए कि 'दर्शन' (Philosophy) काव्य नहीं है और यह भी कि काव्य मे दार्शनिक भाव-व्यजना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता।

'दर्शन' तर्क और ज्ञान से 'रहस्य' को समझने का आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपने मे आच्छादित कर लेने की व्याकुलता प्रकट करता है। दर्शन 'चिन्तन' है, विचार है; कविता अनुभूति है, भाव है। 'दर्शन' उसे दूर रख कर खुली आँखो से देखने की चेष्टा करता है, काव्य उसे अपने ही में उतार कर निमीलित नेत्रों से उसका दर्शन करता है। जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा 'राग' जाग उठता है, हम अपने को भूलकर 'उसकी' ओर खिंचने लगते हैं, वहीं 'काव्य' की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। रहस्य की ओर खिंचाव—आकर्षण—ही रहस्यवादी काव्य को जन्म देता है। 'रहस्य' जैसा कि अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है, उस 'परोक्ष' सत्ता को कहते हैं जो हमारी पार्थिव आँखों के ओझल है, परे

है। उसी को अनुभव करने, पहचानने की ललक—चाह—रहस्यवादी काव्य में दीख पड़ती है। अपनी प्रवृत्ति और विश्वास-भावना के अनुसार एक रहस्यवादी जगत् मे परोक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर हर्ष-पुलक से भर जाता है, दूसरे जगत को असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उसके दर्शन कर आत्म विभोर हो जाता है* । इस प्रकार के द्रष्टा को आत्मवादी या व्यक्तिवादी भी कह सकते हैं, तीसरा किसी व्यक्ति ही को 'उसका' प्रतीक मान, उसमें अपनी भावनाओ को केन्द्रित कर, उसी का सान्निध्य चाहता है।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्मा के चेतन को झाँकने के लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृति मे समष्टि रूप से चेतनता का आरोप कर उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापिन करता है और उसे अपना ही अश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टि ही में परोक्ष चेतन का आरोप कर भी आत्मविस्मृत हो ाता है। प्रत्येक रहस्यवादी के लिए आकर्षण के आधार का एक होना आवश्यक नही; पर उस आधार में उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की अनुभूति में सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

जो प्रकृति के किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग-रजित

---

*गगन मँडल के बीच में, जहाँ सोहगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि ॥—कबीर

आँखे बिछा देते है वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं, पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

"वर्तमान हिन्दी कविता मे 'रहस्यवाद' की संज्ञा 'प्रसाद' जी के शब्दो मे है—अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अह (आत्मा) का इदम् (जगत्) से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरह के रहस्यवाद को सूफी भावना के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' मे 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह-वेदना सूफी काव्य की आत्मा है।

अपनी भावनाओ को स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचना मे कवि का लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे 'रहस्यवादी' काव्य नही कहेगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्य का आलम्बन सीधा 'परोक्षसत्ता' हो सकता है ? इस सम्बन्ध मे स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य विचारणीय है—"हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा, जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिबवाद, कल्पनावाद आदि वादो का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खडा करना है।" आचार्य, हृदय के राग का

'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नही। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण सूफी और सगुण रहस्यवादियों की चर्चा की है। इन तीन वादियों मे व्यावहारिक दृष्टि से सूफी और सगुणवादियों मे अन्तर नही है। दोनों अपने हृदय के राग को 'व्यक्त' पर ही आधारित करते हैं। अब रह गए निर्गुणवादी अद्वैतवादी। वे भी अपनी हृदय-भावना को एकदम अव्यक्त पर नहीं जमाते। उन्हें लौकिक प्रतीक ढूँढने ही पडते हैं। कबीर कहते हैं—

"हरि मेरो पिउ हम हरि की बहुरिया।"

अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आत्मवादी को भी अपने से बाहर देखना पड़ता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य में रहस्य-भावना सर्वथा अदृष्टावलम्बित नहीं रहती। अभिव्यक्ति के लिए उसे 'व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पडता है जो कि प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचना को पहचानने के लिए हमे कवि की मूल भावना की तह मे जाना आवश्यक होता है। केवल अनंत अतरिक्ष, क्षितिज, असीम आदि शब्दो को देखकर ही उसे रहस्यावलम्बी नहीं मान लेना चाहिए। कभी कभी मनुष्य 'इस अवनी के कोलाहल' से ऊब कर भी मन की ऐसी अवस्था चाहता है, जो सासारिक सुख-दुःखों से परे हो जाय। 'प्रसाद' ने "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक !

धीरे-धीरे ।' (लहर) मे ऐसी कामना की है । उन्होने ऐसे लोक में जाना चाहा है जहाँ एकात हो और कानों मे निश्छल प्रेम का सगीत झरता हो, जिसमे विभोर हो, जीवन अपनी सांसारिक क्लांति को खो सके । इस मायामय चचल विश्व मे 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूप से छाया हुआ दीख पडे, जिससे सुख-दुःख दोनो समान समझ पडें'— दोनो ही 'सत्य' जान पडे । हम दोनो से समान सुख अनुभव कर सके ऐसे लोक में श्रम और विश्राम में विरोध न हो, वहाँ किसी का जीवन केवल 'श्रम-हा-श्रम न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो । और वह लोक ऐसा हो जहाँ जागृति ही का सतत प्रकाश फैलता रहता हो ।

इस रचना मे कवि की अदृष्ट लोक की (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है । हम ऐसा कही संकेत नही पाते कि कवि को वह लोक मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है । परन्तु 'लहर' मे प्रकाशित 'उस दिन जब जीवन के पथ मे' शीर्षक रचना से हमे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है । जब साधक अपने ही मे अनत रस का सागर लहराता हुआ अनुभव करता है तब वह मधु-भिक्षा की रटन अधर मे लेकर घर-घर भटकने की आवश्यकता नही समझता । पर कवि की यह भावना अपने ही अतर के रस मे भीगे रहने की प्रवृत्ति क्या स्थायित्व लाभ कर सकी है ? यदि कोई 'सत्य' किसी को मिल जाता है और उसकी आस्था जम जाती है तो वह फिर उसी मे अपने को केन्द्रित कर उसी की तान भरता है—उसी को प्रतिध्वनित करता है । परन्तु हम देखते

हैं 'प्रसाद' के मन में आत्म सत्य की एक क्षणिक लहर हो उठी थी, वह फैलकर 'सागर' नहीं बन सकी। अन्यथा चारो ओर मधु-मगल की वर्षा की अनुभूति ही उन्हे विकम्पित करती रहती; 'विषाद' उनके जीवन को आच्छादित न कर सकता।

अतएव रचना की केवल आकृति (Form) को देखकर ही उसकी 'वस्तु'की आध्यात्मिक प्रेरणा की कल्पना न कर लेना चाहिए। हमे देखना चाहिए कि काव्य का रूप (आकृति) कवि के आन्तरिक जीवन से स्पन्दन ग्रहण कर रहा है या केवल बुद्धि का विलास है? आधुनिक रहस्यवादी रचनाओ मे 'बुद्धि का विलास' (Intellectual exercise) ही अधिक पाया जाता है। उनमे 'क्रोसे' के मतानुसार 'आकृति' (Form) को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि उससे सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। और यह निश्चय ही वाह्य-सौन्दर्य है। प्राचीन रहस्यवादियों ने आकृति पर ध्यान नही दिया, उन्होंने 'वस्तु' को—'तथ्य' को—'भावसत्य' को—ही प्रधानता दी, क्योंकि वे तो उस 'सत्य' को अपना 'वाणी' से नीचे 'प्राणों' मे उतार चुके थे। अतः 'अटपटे' शब्दों मे' भी उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज मधुर हो सकी और हमें हिला सकी।

यहाँ यह आग्रह नहीं है कि रहस्य भावना सच्चे साधु-सन्तों के हृदय मे ही तरंगित हो सकती है, पर यह ठीक है कि उसका स्थायित्व उन्हो मे रह सकता है, जिनकी वृत्तियाँ सचमुच उसी भावना मे रँग चुकी हैं। यों प्रायः मनुष्य के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी अवश्य आते हैं,

जब वह अन्तर्मुख हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति-सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते हैं; पर चूँकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुँधली होती है। 'प्रसाद' मे ऐसी अनुभूति की कभी-कभी लहर सी उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन मे होती है, तब हमें उस कामना को ही रहस्य-भावना नही समझ लेनी चाहिये।

रहस्यवाद की चर्चा के साथ छायावाद का भी प्रायः उल्लेख किया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो छायावाद कोई 'वाद' नही बन सकता। उसके पीछे कोई दार्शनिक या परम्पराजन्य भूमि नही दिखाई देती। उसे हम काव्य की एक शैली कह सकते हैं।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमे 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शांत और निश्छल सम्बन्ध की चेष्टा' की मात्रा ही नही पाई जाती; स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अंकित देखे जा सकते हैं। इस तरह छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता-प्रकाशन की आवश्यकता नही है। उसमें व्यष्टि की किसी अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और वाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) रचनाओं की रुक्षता की प्रतिकृति के रूप में जब आभ्यन्तर भावों का विशेष ढंग से

प्रकटीकरण होने लगा, तब उसमें नवीनता देख उसे 'छायावाद' की संज्ञा दी गई। उसमे शब्द-योजना और छन्द-विन्यास मे रीतिकाल के काव्य की अपेक्षा निश्चय ही वैचित्र्य पाया जाने लगा। 'छायावाद' की रचनाओं मे 'भावों की नवीनता' की अपेक्षा, भावों को व्यक्त करने की कला मे नवीनता अवश्य थी। और कवि की दृष्टि भी 'वाह्य जगत्' से हटकर अपने 'भीतर' ही रमने लगी—और जब वह अन्तर्मुखी हुई, तो उसने वाह्य जगत् को भी अपने ही मे प्रतिबिम्बित कर लिया। यदि एक वाक्य मे कहे तो कह सकते हैं कि वे सब रचनाएँ जो अन्तर्वृत्ति निरूपक हैं, छायावाद के अन्तर्गत आ जाती हैं*। अतः रहस्यवादी रचनाएँ भी, जो अन्तर्वृत्ति-निरूपक ही होती हैं, 'छायावाद' शैली की कृतियाँ कहला सकती हैं। उनमे निराली अभिव्यक्ति का लावण्य दिखाई देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मानव अनुभूति को 'छायावाद' कहलाने के लिए 'स्वच्छन्द छन्द' मे ही चित्रित होना चाहिए। हाँ, निरालापन लाने के लिए शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता छायावाद का विशिष्ट गुण अवश्य है। इसलिए 'छायावाद' की रचना में शब्दों की अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना शक्ति से अधिक काम लिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'छायावाद' का सामान्यतः अर्थ हुआ 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यजना करनेवाली

---

* 'छायावाद' शब्द को अर्थ-शून्य समझकर इन पंक्तियों के लेखक ने अन्तर्वृत्ति-निरूपक रचनाओं को सन् १९२८ से 'हृदयवाद' के नाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया था।

छाया के रूप मे अप्रस्तु का कथन'। 'छायावाद' ही प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली भी कहलाती है।

'प्रसाद' भी 'छायावाद' को काव्य की एक अभिव्यक्ति-विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—'छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्त छाया कान्तिमयी होती है'।

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीक्षक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली तो मानते हैं पर उस शैली के निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरनेवाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नही मानते; प्रत्युत अभिव्यक्ति मे वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर पं० केशवप्रसाद मिश्र की राय है कि 'छायावाद' की रचना के लिए 'हृदय मे केवल वेदना ही चाहिए, वह स्वयं अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है। मिश्रजी की यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी जब हिन्दी में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रियास्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही "छायावाद" कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नही जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नहीं माना जाता था।

तभी एक ओर—

'हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में;
तेरी ही छवि का विकास है, कवि की बानी में, मन में।'

—रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पंक्तियाँ (जिनमे परमात्मा को लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावाद की रचनाओ के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत की जाती थीं. वहाँ सुभद्राकुमारीजी की यह रचना भी जिसमे लौकिक प्रेम का रस छलछला रहा है, 'छायावाद' की रचना समझी जाती रही है—

"तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ ? क्या जवाब दूँ तुम्ही कहो !
'जा....' कहते रुकती है जबान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो ?
सेवा करना था जहाँ कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मै सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।"

'छायावाद' की रचना के लिए न तो 'आलम्बन'-विशेष का बंधन था और न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमे 'हृदय' के राग की छाया दीख पडती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छायावाद' को 'हृदयवाद'* का पर्याय मानते हैं। अतएव उसकी व्यापकता को स्वीकार कर उन सभी रचनाओं को

---

* इस शब्द का प्रयोग सबसे पहिले मैने सन् १९२७ में 'आँसू' की समीक्षा के सिलसिले में किया था—लेखक।

छायावाद के अन्तर्गत मानते हैं, जिनमे आंतरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को काव्य की एक शैली-विशेष भी कहते हैं, तब हमे अनुभूति की अभिव्यक्ति मे निरालापन भी दिखाई देना चाहिये। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर सकता है। सरल भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा मे भाव-सूक्ष्मता का आभास प्रस्तुत कर हमे कला-सौन्दर्य से विमुग्ध बना सकता है। अतः 'छायावाद' की रचना के लिए निम्न दो बाते आवश्यक हैं—

१—रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिये और, २—रचना की अभिव्यक्ति मे 'निरालापन' होना चाहिये। यह निरालापन शब्दो की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जाय।

'प्रसाद' जी की अधिकांश रचनाएँ 'छायावाद' की उक्त व्याख्या के अन्तर्गत आती हैं। उनकी रहस्य-संकेतात्मक रचनाओ की 'छायावाद' शैली ही है, प्रायः 'प्रतीको'—लक्षणा—के सहारे ही उन्होने अपनी अन्तर्भावनाओ को प्रकाशित किया है।

श्रीयुत सद्गुरु शरण अवस्थी—

रहस्यवाद और छायावाद

'छायावाद' शब्द किसी लम्बे इतिहास से दबा नही है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के लिए तो एक नितान्त अर्वाचीन शब्द है। अंग्रेजी साहित्य में भी इसका तादृश्य भाववाची शब्द कठिनता से मिलेगा, वैसे पुरातनवादी इसे वेदो में ही क्यो न ढूँढ निकाले।

वस्तु-रूप में छाया की भाँति अग्राह्य, अरूप, तथा आभा-मात्र को पकड कर सरूप करने के प्रयत्न को 'छायावाद' कहना चाहिए। फिसल-फिसल जानेवाली परिस्थितियाँ जब अधिकारी के अनुभव के दर्पण मे कौंधती रहती हैं और व्याकुल होकर उन्हें यावत् किंचित किसी न किसी ढग से, किसी न किसी प्रकार कथन की मेंड में समेटता है तो उसके इस कलम से उतारने की करामात को 'छायावाद' कहेंगे और 'छाया' को ही बुला-बुला के उतारने के अभ्यासी को 'छायावादी'।

अंग्रेजी साहित्य मे, और यहाँ भी, पहुँचे हुए सतों के अनुभव कुछ ऐसे ही टेढ़े-मेढ़े अधूरे, पर उनके लिए पूरे, जब लेखनी की जिह्वा से। बोलते हैं तो उनमें 'छाया' का व्यक्त करने का वह प्रयास मिलताहै

अँग्रेजी साहित्य मे एक शब्द 'मिस्टीसिज्म' मिलता है। द्रष्टा की असाधारण अनुभूतियाँ साहित्य के इस वर्ग में मिलती हैं। मिस्टिक कवियों के गद्य और पद्य दोनो मे एक विशेष प्रकार की शैली की सृष्टि हुई है। अपनी केवलता ही के कारण उस शैली की थोडे समय तक बड़ी धूम रही है। इसकी सबसे बडी विशेषता प्रतीक-प्रयोग और संकेतात्मकता थी। वस्तु से अलग केवल इस अभिव्यंजन-चातुर्य को अँग्रेजी में 'सिंबलिज्म' नाम दिया गया। 'सिबलिज्म' शब्द छायावाद की भाँति व्यापक नहीं है।

भारतीय साहित्य में कबीर तो पहिले ही से चले आ रहे थे, पर रवि बाबू के संपर्क से इस शैली की विशेष प्रकार से अवतारण हुई। इस शैली मे अपना निजी आकर्षण था। 'छाया' को भी न देखने वाले केवल इस शैली के मोह से 'छाया' दिखाने का स्वाँग भरने लगे। इसी प्रकार के लिखने के अनेक ढंग चल निकले; वस्तु बिल्कुल गौण हो गई; अभिव्यंजना ही सब कुछ समझी जाने लगी और उसी को प्रधान रूप मिला। आज दिन 'छायावाद' के नाम से जो कुछ हिंदी में प्रसिद्ध है उसे केवल अभिव्यंजन-चमत्कार ही समझना चाहिए। भारतीय लक्षण-ग्रंथों में अभिव्यंजन-विधान का इतना ऊहापोह किया गया है कि आज के छायावाद का यदि विश्लेषण किया जाय तो उसके समस्त कण कहीं-न-कहीं बिखरे हुए, पर सँजोए, मिल जायँगे। फिर भी छायावाद का आज एक पृथक् रूप बन गया है। वस्तु से उसका कम लगाव रह गया है। इसीलिए छायावाद को केवल अभिव्यजन-विधान समझना चाहिए, वस्तु की चीज नहीं।

आज तो रहस्यवाद और छायावाद काव्य के पृथक्-पृथक् रूप हैं। जहाँ ये दोनो मिल जाते हैं, वहाँ एक नया वर्ग प्रस्तुत हो जाता है। रहस्यवाद का संबंध सीधे वस्तु-वधान से रहता है, अभिव्यजन-विधान से नही। परंतु छायावाद का संबंध केवल अभिव्यजना की विचित्रता और दुरूह भावगम्यता से रहता है, वस्तु का लगाव उसका गौण रहता है। इसीलिए आध्यात्मिक रहस्यवाद का, जो बहुधा अच्छी छायावादी कविताओ मे वस्तु-रूप से स्वीकृत देखा जाता है प्रत्येक छायावादी कविता मे होना आवश्यक नही। आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन की अनेक रूपता की ही सबसे बडी विशेषता रखती है। वह केवल उक्ति-वैचित्र्य पर टिकी है। अतएव उसका छायावादी अभिधान सार्थक है। प्रतीकवाद, अन्योक्तिवाद, लक्षणवाद, सकेतवाद, अरूपवाद , नीहारवाद और न-जाने कितने ऐसे ही वाद छायावाद मे ढूँढ़े जा सकते हैं। पुराने युग मे वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रीतिवाद और कुछ अंशो मे ध्वनिवाद भी उक्ति-वैचित्र्य के ही रूप समझे जाते थे। कुछ तो आज की छायावादी कविता मे भी परिवर्तित रूप मे मिलेगे।

आज की छायावादी कविता अभिव्यंजन के समस्त पेचीदे 'वादों' के सहारे आगे बढती है, और साथ-ही-साथ पुराने रूढ़िगत अभिव्यंजन के स्वरूपो को पीछे छोडती चली जाती है। रहस्यवाद की उत्ताम अभिव्यजना के लिए प्रतीकवाद, लक्षणावाद, अरूपवाद, अन्योक्ति अथवा समासोक्तिवाद अत्यंत आवश्यक होते हैं। अतएव यह प्रश्न उठता है कि क्या छायावाद का प्रश्रय रहस्यवादी कविता के लिए

अनिवार्य रूप से आवश्यक है ? इसके उत्तर मे केवल यही कहा जा सकता है कि वस्तु कविता की प्राण है। प्राणी कोई भी जामा पहनकर प्रकाश मे निकल सकता है। अतएव यह मानते हुए कि छायावाद के जामे में रहस्यवाद खिल उठता है, यह नही सिद्ध किया जा सकता कि रहस्यवादी कविता को छायावादी होना अनिवार्य है। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं, जिनके अभिव्यंजन में वह पेचीदापन नहीं है कि उन्हे हम छायावादी उक्तियाँ कह सकें, यद्यपि वस्तु के अनुसार उनमे रहस्यवाद का पूर्ण प्रवेश हुआ है। ऐसी पंक्तियाँ ठेठ रहस्यवादी कहलायँगी। पुराने कवियो में इसके उदाहरण बहुत मिलेंगे। जैसे—

पानी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥ कबीर ॥

इस उक्ति में 'अहम्' और 'परम' की अद्वैतता की प्रतिष्ठा दृढ़ता और पूर्ण विश्वास के साथ की गई है। 'हिम' और 'पानी' की तत्वतः एकरूपता को केवल उदाहरण-रूप मे आरोपित करके मायाजन्य द्वैत के भीतर अद्वैत का आभास दिया गया है। इसी प्रकार अंत के पद में 'अब कछु कहा न जाय' लिखकर साक्षात्कार किए हुए रहस्यवादी को यथेष्ट अभिव्यंजन-कठिनता की ओर भी संकेत कर दिया है। इस उक्ति मे छायावाद की कोई छाया नही है, फिर भी रहस्यवाद उपस्थित है।

पुराने कवि का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

बिगसा कुमुद देखि ससिरेखा ;
भय तहँ ओप जहाँ जोइ देखा।

पावा रूप रूप जस चाहा ;
ससिमुख जनु दरपन होइ राहा ।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर;
हँसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर । (जायसी)

इस उक्ति मे 'कुमुद,' 'ससि', कॅवल', 'हंस', 'नग', 'हीर' ऐसे जितने शब्द आए हैं, वे संदर्भ की प्रतिष्ठा के लिए हैं। पद्मावती जलाशय में स्नान कर रही है । कवि पद्मावती को परमरूप का प्रतिरूप समझता ही है, अतएव समय-समय पर और स्थान-स्थान पर वह प्रत्यक्ष के सहारे परोक्ष की ओर संकेत कर दिया करता है। यहाँ भी जलाशय को अखिल विश्व का प्रतिनिधित्व देकर पद्मावती के विराट् रूप में उसे विलास करते हुए दिखाया है। 'ससिमुख' अर्थात् पद्मावती मानो दर्पण है, जिसमे समस्त (विश्व) जलाशय उपस्थित है। 'कॅवल' ने, 'नोर' ने, 'हंस' ने 'नग' ने और 'हीर' ने (यह सब विश्व की अनेक रूपता है) अपना असली रूप पद्मावती के विराट रूप मे पाया । 'अहम्' ब्रह्म मे लय पाकर उसी मे विलास करने लगा । 'अहं' की माया छूट गई । मायाजन्य भाव यह है कि ऊपर की पंक्तियो मे, वस्तु-रूप मे रहस्यवाद के जिस रूप को पकडा गया है, उसमे छायावाद का छल नहीं है। प्रतिवस्तूपमा प्रसंग की आवश्यक और व्यक्त रूढि है । उसमे लाक्षणिकता बहुत कम है। वस्तुओं का परिगणन रूपक-परंपरा के भीतर है ।

पुराने कवियों में ही नही, नए कवियो मे भी छ्यावाद से बचा हुआ, कोरा रहस्यवाद प्रचुर मात्रा मे मिलता है—

भरा नयनों में मन में रूप ,
किसी छलिया का अमल अनूप ।
जल, थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर,
खोज-खोजकर खो गई मै, पागल प्रेम-विभोर ।
भाँग से भरा हुआ वह कूप,
भरा नयनों में मन में रूप ।
धमनी की तन्त्री बजी, तू रहा लगाये कान,
बलिहारी, कौन मै, तू है मेरा जीवन-प्रान ।
खेलता जैसे छाया-धूप,
भरा नयनों में मन में रूप ।— 'प्रसाद'

ऊपर का उदाहरण नितांत स्पष्ट है । उसमे कहीं भी छायावाद की दुरूहता नही है । अहम् 'ब्रह्म' की जुस्तजू मे परेशान है और वह इसके साथ लुका-छिपी खेलता है । कहीं अपनी छवि की कौंध दिखाकर भक्त को उद्विग्न कर देता और वह उसी ओर दौड़ता है ; झिलमिल प्रकाश वहाँ से छिप जाता है । खोजता-खोजता 'अहम्' स्वयं 'अहं' नही रह जाता—

खोज खोजकर खो गई मै'

और कबीर की यह रहस्यमय उक्ति—

'तू-तू' कहता 'तू' भया मुझमें रही न 'मैं'

—चरितार्थ हो जाती है। आगे चलकर पूर्ण तद्रूप की परिस्थिति मे 'अहम्' में ही 'ब्रह्म' समा जाता है। बूँद मे समुद्र प्रवेश कर जाता है—

बूँद समुद्र समान यह अचरच कासों कहौ;
हेरनहार हिरान, मुहमद आपुहि आपु में। (जायसी)

कहने का अभिप्राय यह कि ऊपरवाली उक्ति में साधक और साध्य का रहस्यमय एकीकरण का रूप देकर भी प्रसाद ने उसमे छायावाद का प्रश्रय नही लिया; वह कोरे रहस्यवाद का ही अच्छा उदाहरण है। ठीक इसी प्रकार का एक दूसरे कवि का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम,
लगाकर गले जुड़ा लें प्राण;
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में,
हो जावें द्रुत अंतर्धान। (पंत)

ऊपर की पंक्तियों में रहस्यवाद बहुत स्पष्ट ही नहीं है, क्योकि प्रसंग में कल्पता के सहारे जिस रूप से कवि चल रहा था उससे रहस्यवाद के लिए विशेष अवकाश हीं न था, किंतु "प्रियतम में हो जावें द्रुत अंतर्धान"—इस व्यंजना में रहस्यमय झुकाव स्पष्ट है। इस रहस्यवाद की उक्ति से भी छायावाद का पूर्ण अभाव है।

एक दूसरा कवि अपनी कविता इस प्रकार आरंभ करता है—

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ? ('नवीन')

यहाँ स्पष्ट ही अव्यक्त के लिए तीव्र पुकार है।

ध्याता ध्येय के लिए तीव्र वितृष्णा के साथ अग्रसर है। वह संसार के श्रेयों के अध्रुव चरण से परेशान है। उक्ति, चिंतना की विशेषता के कारण अध्यात्मवादी न होकर रहस्यवादी हो गई है। परतु अभिव्यंजन के उलझाव से दूर होकर छायावादी होने से भी बची है। कवि अन्यत्र कहलाता है—

जोह रहा हूँ बाट चाव से नए जनम के होने की।
देखूँ यह माटी की प्रतिमा कब करते हो सोने की;
रोने की घड़ियों का अंतिम क्षण कब आयेगा देखूँ ?
कब यह मनुआँ ढीठ पुण्य-पथ पर बढ़ पायेगा देखूँ ?
भवँरों में मै फँसा हुआ हूँ,
मत्तभाव से कसा हुआ हूँ।
नदियाँ उमड़ रहीं घबराती,
कल-लहरों में गसा हुआ हूँ।
अरे ! किनारा बहुत दूर है प्रिय मेरे भुजदंड धरो;
भर भर प्याले यौवन- मंदिरा के देना अब बंद करो। ('नवीन')

इस उक्ति में पहली चारों पंक्तियों में तो भक्त का स्पष्ट अध्यात्म-वाद है। दूसरी चारों पंक्तियो मे भी अन्योक्ति के रूप मे प्रतीक प्रयोग के सहारे वही अध्यात्मवाद का भक्ति-मय रूप और आगे बढ़ाया गया

है। परतु नवी पंक्ति में 'अरे! किनारा बहुत दूर है" में रहस्यवाद झलकने लगता है। इस उक्ति मे भी अभिव्यंजना कहीं भी छायावाद तक नही पहुँचती।

नीचे एक और गीत दिया जाता है—

फिर विकल है प्राण मेरे!
तोड दो यह क्षितिज मै भी
देख लूँ उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पंथ से युग-
कल्प उसका छोर क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरे?
(महादेवी)

यह व्यक्ति की औत्सुक्यपूर्ण तडपन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने के लिए आत्मा का प्रयास है। जीवन को ही घेरा समझनेवाला प्राणी पहेली को सुलझाने के लिए श्वासो को भी पीछे छोड देने में हिचक नही सकता। वह देखता है कि जब तक वह सश्वास है, तब तक रहस्य विदीर्ण नहीं हो सकता। ऊपर की कविता की अंतिम दो पंक्तियों का भाव कबीर ने भी अपनी मस्तीवाली धुन में दूसरे प्रकार से कहा है—

जो मरने से जग डरे, मोहि परम आनंद;
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानंद।

महादेवीजी की पंक्तियो मे भावो की कसमसाहट देखकर किसी को यह न समझ बैठना चाहिए कि उनकी अभिव्यंजना के वेग में छायावाद है। ऊपर पंक्तियो मे कही भी छायावाद नही है। केवल रहस्यवाद का कुछ रूप उन पंक्तियो मे उतर सका है।

इतने उदाहरणो द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि रहस्यवाद का संबध वस्तु से है, अभिव्यजना से नही और छायावाद का सीधा सबध अभिव्यजना से है। रहस्यवाद बिना छायावाद के सहारे भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। आगे एक और कविता उद्धृत करके यह प्रसग समाप्त किया जाता है—

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृगजल का हार;
बना हूँ मै चकोर इस बार
बहाता हूँ अविरल जलधार
नहीं फिर भी तो आती लाज..
निष्ठुर! यह भी कैसा अभिमान?

हुआ था जब सध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग-रव बनकर मैं चितचोर
गा रहा था गुण किंतु कठोर!
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक!
निष्ठुर! यह भी कैसा अभिमान?

याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन प्राण ! लगाने धूल
पास आया मै चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात........
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष - करील
रात - दिन दृष्टि-द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें, (यही क्या शील !)
न आए पास, सजा नव साज........
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

अभी मै बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एकएक लिख घात,
किया करते हो जो दिन-रात ।
बुझाते हो प्रदीप बन वात
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत····
निष्ठुर ! यह भी कैसा अभिमान ? [पंत]

ऊपर की कविता में आत्मा परमात्मा की निष्ठुरता की फरियाद करती है। ससीम असीम का आलोक-मात्र देखता है, पर उसमें रमण नहीं करने पाता। वह आलोक विपरीत होकर छिप-छिप जाता है।

आधार की कारा मे आधेय फॅस नही पाता। भक्त उन नाना रूपों का विश्व मे संकलन करता है, जहाँ यह बेरुखाई उसे दिखाई देती है। विरह में तीव्रता प्रदान करने के लिए ये सारे प्रसग हितकर हैं, परतु फिर भी अभिव्यजना मे कोई पेचीदापन अथवा लाक्षणिकता की दुरुहता द्वारा चमत्कार उत्पन्न नही किया गया। अतएव यहाँ भी छायावाद नही है। यह रहस्यवाद का अवश्य अच्छा उदाहरण है।

यह भी देखा गया है कि केवल अभिव्यंजना की दुरूह सकेतात्मकता के कारण ही कभी-कभी आलोचक किसी कविता को रहस्यवादी कहने लगते हैं, यह शुद्ध भ्रम है। ऐसी कविताएँ छायावादी हो सकती हैं, परंतु रहस्यवाद से उनका कोई संबंध नही। नीचे इस प्रकार की कविताओ के उदाहरण दिए जाते हैं—

मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी
मै व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बंदी अलि-सा काँप रहा
छलक उठा प्याला लहरी में मेरे सुख का माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चलीं भौहें मिलने
लीन हो गई लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी खडा मै चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीडा के विभ्रम से, बहकाने से
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने से

उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना
मिलन-क्षितिज-तट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठ जाना
('प्रसाद')

यह देखा गया है कि नवीन युग के हिंदी कवियो का रुझान छायावाद की ओर अधिक है, कभी-कभी तो उनमें वस्तु-निरूपण का पूरा-पूरा अभाव रहता है, केवल छायावाद के उखडे हुए चित्र सामने रक्खे जाते हैं। परतु ऊपर की कविता मे चित्रों के रंगीन होने में कोई कसर नही है।

वास्तव में परिस्थितियों की समस्त मूर्तिमत्ता छायावाद पर आश्रित है। कहीं-कहीं तो मूर्ति की नग्नता अभद्र हो जाती यदि छायावाद का सहारा न लिया जाता। समझने की बात यह है कि इस कविता में वस्तु-रूप मे रहस्यवाद ग्रहण नहीं किया गया। अतएव यह रहस्यवादी कविता नही है। यह कोरा छायावाद है।

वायु के एक ओर से झेले जाने पर जल दूसरी ओर उठेगा ही। इस साधारण-सी बात को सांग-रूपक के घेरे मे डालकर जहाँ एक ओर उक्ति का उलझा चमत्कार सामने आता है, वहाँ दूसरी ओर अधीरता के अधीन नाना छोटी-छोटी उपभावनाओं की कसमसाहट हृदय को उकसाती भी है। 'प्याले के छलक उठने' से यह अर्थ लेना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई, 'सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, से रौद्ररस उत्पन्न हो गया, यह भाव निकालना, 'लीन हो गई लहर' से यह समझना कि मुस्कराहट समाप्त हो गई; ये नितांत नए सकेत हैं जिन तक पहुँचना

कष्टसाध्य हो जाता यदि 'हो चपल चलीं भौंहे मिलने'—से स्पष्ट क्रोध के सात्त्विक भावो का रूप सामने न खड़ा हो जाता। बहुत सी कोठरियों मे बंद की हुई लाक्षणिकता अथवा ध्वनि, काव्य के काम की तभी हो सकती है जब उसको आकाश में लानेवाला झटका, चाहे वह कितने सूक्ष्म कौशेय तंतु का क्यों न हो, बाहर अनुभव होता रहे; इसी लिए रूढिगत प्रतीक छायावाद को सुबोध रखने के लिए अधिक उपयोगी हैं। पाठको के सामने वे स्वयसिद्ध रूप मे उपस्थित होते हैं।

ऊपर का 'चपल चली भौहें मिलने' को हम रूढ़ि का ही नवीन प्रयोग मानते हैं। आगे चलकर 'श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा' वाली उक्ति में चंद्रकला को रजनी (श्यामा) रमणी का प्राप्त नखदान के रूप में देखना और नक्षत्रमाला को उसके उर का मौक्तिक माल समझना जहाँ एक ओर श्रृंगार-साधना का विराट् रूप उपस्थित करता है वहाँ 'मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा' वाली पक्ति से प्रेमी के रोकर अपने दोनों ओर आँसू की माला बनानेवाली मूर्ति भी सामने आती है, जिसकी सार्थकता 'लीन हो गई लहर' के बाद ठीक बैठ जाती है।

छायावाद की दुरूह उक्तियों मे इस प्रकार का अर्थ-भेद हो जाना स्वाभाविक है।

एक दूसरी उक्ति देखिए—

अब न कपोलों पर छाया-सी पडती मुख की सुरभित भाप,
भुजमूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप

कंकण क्वणित रणित नूपुर थे हिलते थे छाती पर हार
मुखरित था कलरव गीतों में स्वर लय का होता अभिसार

कपोलों पर सुरभित माप का आकार बनाना जहाँ एक ओर चुबन की क्रिया की ओर सकेत करता है, वहाँ कपोलो की उज्ज्वलता और निर्मलता की ओर भी ध्यान ले जाता है; छायावाद में जब इस प्रकार की अनेकार्थवाची ध्वनियाँ बिना कष्टप्रयास के उपलब्ध हो जाती हैं तो अभिव्यजना को सफलीभूत समझना चाहिए।

दूसरी पक्ति से प्रगाढ़ और व्यस्त आलिगन का संकेत तो मिल जाता है परतु 'वसन' के आ जाने से भाव-आघात कुछ शिथिल-सा हो जाता है, यद्यपि 'शिथिल' को 'वसन' का विशेषण बनाकर उसका परिहार किया गया है। ऊपर की पंक्तियाँ छायावाद की हैं, रहस्यवाद से उनका कोई सरोकार नही।

ऊपर जैसा अभिव्यजना-सौंदर्य नीचे की पंक्तियो मे भी मिलेगा--

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं
तब नख-ज्योति-मिस, मृदुल अँगुलियाँ हँसती।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पडता,
तब अरुण एडियों से सुहास-सा झडता।

(मैथिलीशरण)

मुस्काने में या तो दंतपंक्तियो की धवलता कौंध जाती है या होठों की लाली चमक उठती है; दोनो रूपो को एक-एक करके

सामने रखकर चमत्कार उत्पन्न किया है। 'नख-ज्योतिं' धवल होगी और अरुण एड़ियों का सुहास्य लाल होगा। सहज मे हम जान लेते हैं कि सीता जी के बाल लंबे और घने हैं। चाल में गजगामिनी की ठसक है। उँगलियाँ कोमल हैं, नख चमक रहे हैं और एड़ियाँ अरुण हैं। इस उक्ति मे भी रहस्यवाद ढूँढ़ना भ्रम है।

एक और कविता देखिये--

आज सुनहली बेला
आज क्षितिज पर जाँच रहा है
तूली कौन चितेरा ?
मोती का जल सोने की रज

क्या फिर क्षण में
सान्ध्य गगन में
फैल मिटा देगा इसको
रजनी का श्वास अकेला ?

लघु कंटों के कलरव से
ध्वनिमय अनंत अंबर है ?
पल्लव बुद्बुद और गले
सोने का जग सागर है

शून्य अंक भर
रहा सुरभि-उर ;

क्या सूना तम भर न सकेगा
यह रागों का मेला !

विद्रुम पंखी मेघ इन्हें हैं
क्या जीना क्षण-भर ही ?
गोधूली दिन का परिणय भी
तम की एक लहर ही !

क्यों पथ में मिल,
युग - युग प्रतिपल,
सुख ने दुख दुख ने सुख के—
वर अभिशापों को झेला ?

कितने भावों ने रँग डाली
सूनी श्वासें मेरी,
स्मित में नव - प्रभात
चितवन में संध्या देती फेरी

उर जल - कणमय
सुधि रंगोंमय
देखूँ तो तम बन आता है
किस क्षण वह अलबेला !

(महादेवी)

इस कविता में विषादवाद, औत्सुक्यवाद, नश्वरवाद, परास्तवाद अथवा इसी प्रकार का कोई वाद हो सकता है, जिसे छायावाद ने अपने क्रोड मे सजाकर सामने रक्खा है; परंतु वह रहस्यवाद नही है।

यह कविता भी दार्शनिक छायावाद का अच्छा उदाहरण है। और देखिए—

पछतावे की परछाईं - सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता - सी, अँगड़ाई - सी
अपराधी - सी भय से मौन। (पंत)

इस उक्ति में छायावाद कल्पना के नाना रूपों के चित्रित करने में व्यय किया गया है। यहाँ भी वह कोरा छायावाद ही है; रहस्यवाद से उससे कोई सरोकार नहीं।

आगे जो पद उद्धृत किया जाता है, उसका विषय दार्शनिक अवश्य है; परंतु काव्य-वस्तु रहस्यवाद नहीं। चिंतनावाद और दर्शनवाद रहस्यवाद नहीं होते —

पंख खो उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा
फूल उठता शून्य में मेरा हृदय उच्छ्वास मेरा
ढूँढने जाऊँ कहाँ मैं आँख में आलोक फीका
पैर लरजाने लगे हैं जी हुआ है भार जी का
उग्र जग के क्रोध-पूरित व्यंग को दिल खोल सहता
और जग के राग में इन आँसुओं को बोल सकता
पागलों के स्वप्न ने उड़ चंद्र-मंडल आज घेरा।
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा अंत मेरा॥

(उदयशंकर भट्ट)

चिंतना को विश्व की बहुत-सी समस्याएँ उकसा सकती हैं। नाना प्रकार के वाद उसे सजग कर सकते हैं, परंतु परोक्ष की रसभरी झाँकी उपस्थित करना, निस्सीम को ससीम बनाना, यह कोई दार्शनिक प्रत्यय नहीं है। यह तो अरूप को निरूपित करने का सरूप का प्रयास है, जिसकी प्रेरणा में समूचे हृदय की छलकती हुई वासना रहती है। केवल यह साधना जब कवितावस्तु-रूप में पकड़ती है, तब रहस्यवाद की अवतारणा होती है। ऊपर दी हुई 'भट्टजी' की सुन्दर दार्शनिक छायावाद की कविता इस युग की चिंतना-संबंधी अच्छी कृति है, परंतु वह रहस्यवादी कविता नहीं है।

कोरे 'छायावाद' के चित्र उपस्थित करने वालों में भी वर्तमान कवियो मे जयशंकर 'प्रसाद' अच्छे सफल हुए हैं। अन्यत्र इसके उदाहरण दिए जा चुके हैं। एक और उदाहरण देकर इसके प्रसंग की व्याख्या की जायगी—

अगरु धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हो इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हो पलकों से
व्याकुल बिजली-सी तम मचली आर्द्र हृदय वनमाला से
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से
इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से
याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से
ये लायेंगी रंग सुवासित होने दो कंपन सम से
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से

बजा करें अगणित यंत्रों से सुख-दुख अनुपातों से
उखडी साँसें उलझ रही हों धडकन से कुछ परिमित हो
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ

(प्रसाद)

केशों के लिए 'अगरु' से सुगध, 'श्यामा' से कालापन और 'लहरियों' से घुँघरालापन बडी सुन्दरता से व्यक्त किए गए हैं। 'अधर प्रेम के प्याला से' का यह भाव निकालना कि अधर अधर से संलग्न है दूसरी लक्षणा का निष्कर्ष है। वास्तव मे ऊपर की पक्तियों में प्रेमी की याचना प्रेम के समस्त स्वरूपों मे रमण करती है, जिसमें अनुनय भी हो, विनय भी हो, सयोग का सुख भी हो, वियोग की आहें भी, झिड़कियाँ भी हो, मनाना भी हो। 'प्रसाद' जी के अतिरिक्त यदि और कोई कलाकार होता और इसी आशय को व्यक्त करने का साहस करता, तो कदाचित् ही अश्लीलता को वरका सकता; और यदि स्वयं 'प्रसाद' जी भी सकेतात्मकता, लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता से काम न लेते और दुरूहता की ओर न झुकते, तो उन्हें भी नागरिकता की रक्षा करना कठिन हो जाता। वियोग के समस्त व्यापार को केवल 'उखड़ी साँसे' से संकेत कर देना और संयोग की यथार्थता को केवल एक शब्द 'धड़कन' से सुना देना और संयोग के बाद वियोग और वियोग के बाद संयोग का क्रम केवल 'इस उदास मन की अभिलाषा

अटकी रहे प्रलोभन से' अर्थात् आज के दुख की उदासीनता आगामी कल की सुख-आशा से सीमित रहे।

'छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हो जीवन के भविष्य तम से' अर्थात् आज प्रिय की सामने की छवि कल छिप सकती है, इस दुख का भी ध्यान रहे अथवा—'बजा करे अगणित यंत्रो से सुख-दुख के अनुपातो से'—इन उक्तियो द्वारा हृदय से उतार देना क्या कोई सरल काम है ? प्रणय-व्यापार की समस्त लीलाओ की जानकारी, उनकी रुचि का मानसिक ज्ञान और साथ-ही-साथ एकरसात्मकता के आतिशय्य से जी ऊब जानेवाली मानवीय कमजोरी, सभी कुछ बाते इस कृतीकलाकार ने सामने रख दी हैं। छायावाद का इतना सुन्दर उदाहरण कदाचित् ही कही देखने को मिले। परन्तु स्मरण रहे, यहाँ भी कोरा छायावाद है ; रहस्यवाद वस्तु-रूप मे स्वीकार नही किया गया।

कोरी छायावादी उक्तियाँ पुराने कवियों मे भी मिलेगी। अतएव यह न समझना चाहिए कि छायावाद नितांत आज की चीज है। मलिक मुहम्मद जायसी ने एक स्थान पर पद्मावती की वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

"भँवर छपान हंस परगटा" (जायसी)

'भँवर' से संकेत केवल काले और घुँघराले केशो की ही ओर नही है वरन् भ्रमर की स्वभाव-स्थिरता, उसकी परिस्थिति के अनमिल वर्तन की सतत भनभनाहट (अर्थात् युवावस्था की अशांति की

चिरतन शिकायत) और उसकी सतत परिभ्रमणशीलता तथा पुष्पपराग-पान की उत्कठा (भावों में नये उपकरणो द्वारा विलास से चिपके रहने की यौवन की चाह) इन सबकी सूचना केवल शब्द 'भॅवर' दे जाता है और 'छिपने' से यह स्पष्ट हो जाता है कि युवावस्था की समस्त उद्दाम भावनाऍ और परिस्थितियॉ, जिनका संकेत ऊपर किया गया है, छिप गई हैं।

इसी प्रकार 'हंस' से केशो की वर्ण-धवलता को ही सामने नहीं लाया गया है, वरन् हंस की भॉति वयस्क की समझ-समझकर धीरे-धीरे पग रखने की बान, उसके मोती चुगने से वृद्ध के उज्ज्वल विचारो की धारणा तथा (कवि प्रौढ़ोक्ति का लक्षणा द्वारा उसके क्षीर-नीर-विवेकवाले स्वभाव का संकेत करते हुए) वृद्ध की बुद्धि-परिपक्वता और समझ की गंभीरता तक पहुॅचा दिया गया हैं। परतु यह भी उक्ति रहस्यवाद की नहीं है, लक्षणा और व्यंजना के बल पर केवल छायावाद खड़ा है।

छायावाद की सार्थकता बहुत बढ़ जाती है, जब वह वस्तु-रूप में रहस्यवाद को अपनाता है। छायावाद और रहस्यवाद के सोहाग के चित्र हिंदी मे—विशेषकर नवीन हिंदी में—काफी मिलेगे। पुराने कवियों मे भी एक-दो उक्तियॉ छायावाद की मिलेंगी—

काहे रे नलिनी, तू कुँभिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति न ऊपरि आग, तोर हेत कहु कासनि लागि?

कहैं कबीर जो उदक-समान, ते नहिं मूए हमरे जान।
(कबीर)

'अहम् ब्रह्मास्मि' की परिस्थिति न प्राप्त कर सकने के कारण ही मनुष्य दुख भोगता है। कबीर ने उसे पा लिया है; साक्षात्कार हो चुका है। पर तद्रूप भावना का यह चित्र दूसरी आत्माओं को सचेत करने के लिए खींचा गया है।

'जल में उतपति जल में बास, जल मे नलिनी तोर निवास' यह उक्ति वैसी है, जैसी कबीर की दूसरी उक्ति—

आदौ गगना अंते गगना, मध्ये गगना भाई (कबीर)

अथवा—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी
फूटा कुंभ जल जलहि समाना··· ················ (कबीर)

—रूपकों की पेचीदगी के सहारे छायावाद का प्रश्रय ऊपर लिया गया है और रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति की गई है। केवल उक्ति-वैचित्र्य पर आश्रित रहस्यवाद भी कबीर में है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

समदर लागि आगि नदियाँ जल कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखा चढ़ गई॥ (कबीर)

मानव की सांसारिक परिस्थिति का संकेत समुद्र से करना, इस दुनियाबी मिलावट का संकेत बाहर से आकर समुद्र में मिली हुई

नदियो से करना, उद्दीत भक्ति-भावना—ससार के विषयों को भस्म करनेवाली भावना—को अग्नि द्वारा सकेत करना और तन्मय के लिए ऊपर खिची हुई आत्मा की अभिव्यजना-रूख पर चढ़ी हुई मछली से करना—इत्यादि छायावाद के अच्छे चित्र हैं। विषय पूर्ण रूप से रहस्यवाद है।

इसी प्रकार केवल प्रतीक-प्रयोग के बल पर ब्रह्मवाद को, हृदयजगत् की तन्मयता के साथ, उक्ति-वैचित्र्य के सामूहिक सौदर्य द्वारा छायावाद का रूप नीचे के पद में दिया गया है—

रमैया की दुलहिन लूटा बजार।

सुरपुर लूट नागपुर लूटा तीन लोक मचा हाहाकार;
ब्रह्मा लूटे महादेव लूटे नारद मुनि के परी पिछार।
श्रृंगी की मिंगी करि डारी पारासर के उदर बिदार;
कनफूँका चिद कासी लूटे लूटे जोगेस करत बिचार।
हम तो बचगे साहब दया से, शब्द-डोर गहि उतरे पार;
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो इस ठगनी से रहो हुसियार।

(कबीर)

दांपत्यरति ने ऊपर के पद को और भी सरस बना दिया है। 'शब्द डोर गहि उतरे पार' में 'सुरतनाद' के अभ्यास की ओर एक रूखा-सा संकेत है। पर तद्रूप के मुख से निकली हुई यह रहस्यवाद की वाणी अधिक सरस इसलिए नहीं हो पाई, क्योंकि इसका झुकाव अध्यात्मवाद की ओर अधिक है।

वैसे यदि कोई प्रयास करे तो कबीर के कूटों और उलटवासियों में कुछ पद छायावाद के मिल जायँगे, जिनका विषय रहस्यवाद है। वर्तमान विषयों में रहस्यवादी छायावाद के सुंदर चित्र कुछ ही कवियों के बन पडे हैं। शेष की कृतियों में या तो कोरा रहस्यवाद है या कोरा छायावाद अथवा ये दोनो वाद नहीं है। कवियों और उनके आलोचकों, दोनों को भ्रम है कि वे इनके प्रवर्तक हैं। कुछ आलोचक तो अलकार के नवीन प्रयोगों से चमत्कृत होकर उसी को छायावाद कहने लगते हैं। इस संबंध मे आगे कहा जायगा। नीचे एक कविता उद्धृत की जाती है—

'तुम तुंग हिमालय शृंग और मै चंचल गति सुर-सरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मै कांतकामिनी कविता।
तुम प्रेम और मैं शांति।
तुम सुरापान घन अंधकार;
मैं हूँ मतवाली भ्रांति।
तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान;
तुम वर्षों के बीते वियोग
मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग और मै सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

(निराला)

'तुम' और 'मै' के एकीकरण की ओर उतना प्रयास नहीं है, जितना 'तुम' और 'मै' की तात्त्विक एकरूपता के सिद्ध करने की ओर है। इन पंक्तियों में द्वैताद्वैत की भावना को काव्य-बद्ध किया गया है। इसी कविता में कवि आगे कहता है—

तुम हो प्रियतम मधुमास
और मैं पिक कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त
और मै हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अंबर मैं दिग्वसना
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम
मै तडित्तूलिका-रचना॥
तुम रण-तांडव-उन्माद नृत्य
मैं युवति मधुर नूपुर-ध्वनि
तुम नाद वेद ओंकार सार
मै कवि-शृङ्गार-शिरोमणि॥
तुम यश हो मै हूँ प्राप्ति
तुम कुंद-इंदु-अरविंद शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति

(निराला)

छायावाद के क्रोड़ में रहस्यवाद की वस्तु रूप में प्रतिष्ठा सफल हुई है। ऐसी कविताएँ कम मिलेंगी। एक दूसरी कविता नीचे और दी जाती है—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनत अनुराग भरी !
किसको त्यागूँ किसको माँगू,
है एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ, प्रस्तर रसमय !

पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमों में पुलकी लहरी !
जिसको पथशूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;
प्रिय के संदेशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेजूँगी भुज भर;

मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण-कण में ममता बिखरी !
अरुण ने यह सीमंतभरी,
संध्या ने दी पद में लाली;
मेरे अङ्गों का आलेपन—
करती राका रच दीवाली !

जग के दागों को धो-धोकर
होती मेरी छाया गहरी !
पद के निक्षेपों से रज में—
नभ का वह छायापथ उतार

श्वासों से घिर आती बदली
चितवन करती पतझार हार !
जब मै मरु में भरने लगती
दुख से रोती जीवन-गगरी !

(महादेवी)

ऊपर की कविता मे 'अहम्' के विस्तार का रूप यत्र-तत्र स्पष्ट दिखाई देता है। 'अहम्' का रहस्यमय प्रभाव काव्य का प्राण है—

मेरे पद छूते ही होते
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !

संध्या ने पद मे लाली भर दी, राका ने अंगो का आलेपन किया, श्वासो से बदली घिर आती है, चितवन पतझार करती है, इत्यादि छायावादी अभिव्यंजनाओ मे रहस्यवाद की ही प्रतिष्ठा दिखाई देती है। पं० माखनलालजी की कृतियों में छायावादी रहस्यवाद के बडे सुंदर और सुलझे हुए उदाहरण उपस्थित हैं—

अगणित बार समाकर भी।
छोटा हूँ यह संताप हुआ।

कदाचित् यह उन्ही की पंक्ति है।

नवीन कवियों में कभी-कभी अभिव्यंजना के चमत्कार, या यो कहिए कि छायावाद का मोह इतना अधिक हो जाता है कि वस्तुरूप मे ग्रहण किया हुआ रहस्यवाद, पूरा-पूरा स्पष्ट नहीं हो पाता।

छायावाद की भूलभुलैया मे वह स्थान-स्थान पर झाँकता-सा प्रतीत होता है; क्रमपूर्ण निबधना का अभाव रहता है। छायावाद का प्रश्रय जहाँ एक ओर रहस्यवाद को अशक्त और प्रभावमय बना देता है, वहाँ दूसरी ओर छायावाद की अतिशयता उसे विरूपित भी कर देती है। आज के कवियो मे भी कुछ ऐसे श्रेष्ठ कलाकार हैं जिनमें रहस्यवाद और छायावाद का बहुत ही उत्तम समन्वय मिलेगा। उदाहरणार्थ—

निर्झर कौन बहुत बल खाकर बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा हूँ स्थान धरा मे, अपने ही चरणो में गिरता।

(प्रसाद)

जिस प्रसंग में ये पंक्तियाँ आई हैं, वहाँ रहस्यवाद को वस्तुरूप मे ग्रहण करके काव्य-बद्ध करने का कवि का कोई अभिप्राय नही था, फिर भी वेदात के अद्वैतवाद की सुंदर भावमय अभिव्यंजना का समावेश ऊपर की पंक्तियों की पकड मे अनायास आ गया है और साथ-ही-साथ छायावाद का उत्तम रूप भी बन पडा है।

शांति की प्राप्ति का इच्छुक, 'ब्रह्म' की तलाश मे, आत्मा न-जाने कहाँ-कहाँ मारा-मारा घूमता है, कितने कष्ट झेलता है, अपने से बाहर ब्रह्म को अगति प्राप्ति के लिए ढूँढ़ा करता है।

परतु उसे वास्तविक शाति तभी मिलती है, जब वह अपने को 'अहम् ब्रह्मास्मि' समझकर सारी पूजा-अर्चना और श्रद्धा का केंद्र बनाता है और अपने ही चरणों पर भक्ति के फूल बिखेर देता है;

'सोऽहम्' की परिस्थिति हो जाती है। इसी भावना का निर्झर के प्रतीक द्वारा बड़े अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है। 'बहुत बल खाना', 'बिलखाना', 'ठुकराना', 'खोजना', 'अपने चरणों में गिरना' ये समस्त क्रियाएँ वाच्यार्थ देकर लाक्षणिक अर्थ का संकेत करते हुए एक समूची रहस्यमयी परिस्थिति व्यग्य करती हैं। वही ध्वन्यार्थ इन पक्तियो का प्राण है।

छायावाद के रूप को और अधिक समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसका और अलंकारवाद का स्थूल भेद समझ लें। नीचे कुछ ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं जहाँ न छायावाद है, और न रहस्यवाद—

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल
अपलक अनत, नीरव भूतल
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल,
तन्वंगी गगा ग्रीष्म-विरल
लेटी है शांत, क्लांत निश्चल।
तापस-बाला-सी गंगा कल
शशि-मुख से दीपित मृदु करतल
लहरे उर पर कोमल कुंतल
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर,
लहराता तार-तरल सुन्दर
चचल अंचल-सा नीलांबर
साडी की सिकुडन-सी जिस पर

शशि की रेशमी-विभा से भर
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर। (पंत)

ऊपर की कविता में छायावाद नही है; रहस्यवाद भी नहीं है। केवल दृश्य की मूर्तिमत्ता बडी स्पष्टता और विद्वता से खडी की गई है। कवि का पर्यवेक्षण बडा सूक्ष्म है और वह स्वरूप को जैसे का तैसा चित्रित कर देने मे बडा पटु है। उपमाओ में अधिकतर नवीनता है और उनका भावसादृश्य दोनो मिलकर चित्र के हृदय-प्रवेश में बड़ी सहायता देते हैं। इसी प्रकार एक दूसरे कुशल कलाकार का चित्र देखिए—

बीती विभावरी जाग री।
अंबर-पनघट में डुबा रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु - मुकुल - नवल - रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये,
अलकों में मलयज बद किये—
तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री! (प्रसाद)

संगीत की ऊँची गति-विधि के साथ प्रातःकाल का इतना मूर्तिमान

और सरल वर्णन बहुत कम देखने में आता है। नेत्र खोलकर कवि ने प्रातःकाल को देखा है। वह उस वर्णन का अवसान—

तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री।"

—इन पंक्तियों से करके मानवता का प्रकृति के इस विपर्यय के साथ अटूट संबध दिखलाता है और चित्र को तन्मयता के लिए और अधिक सफल बना देता है। इनमें 'प्रसाद' ने छायावाद को नहीं अपनाया। वस्तु-रूप मे तो स्पष्ट प्रातःकाल का वर्णन है, अतएवर हस्यवाद का कोई भ्रम नहीं उठता।

एक और कविता आगे दी जाती है। बिना ध्यान से पढ़े हुए लोग इसे रहस्यवादी कविता कहने की भ्रांति कर सकते हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक ने ऐसा किया भी है। कुछ शब्द ऐसे आ गये हैं, जिन्हें यदि उपमा के रूप मे न लेकर ध्वन्यात्मक समझा जाय, तो यह भूल हो सकती है।

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे बलि बंध के सुंदर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मंदिर की नींव।
बड़े-बड़े ये शिलाखंड मग रोके पड़े अचेत।
इन्हें लाँघ तू यदि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर अगम शिखर के ऊपर मचा मृत्यु का रास;
नीचे उपत्यका में, जीवन पंकिल का है त्रास।

चढ़ चल, चढ़ चल थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुंज;
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल
अपना सीस पिरोकर कर दे पूरी मा की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बंध,
कर दे पूरा आत्म-निवेदन का तू आज प्रबंध।

(नवीन)

कवि की स्पष्ट पुकार देश-सेवा है। बलि-पशु से देश-सेवक की कठिनाई, उसकी तपस्या और बलिदान को व्यक्त किया गया है। वह कहता है—

"अपना सीस पिरोकर कर दे
पूरी मा की माल"।

यहाँ माँ स्पष्ट रूप से भारतमाता के लिए कहा गया है। अतएव जितने पद भी ऐसे मिलें, जिनके कारण आत्मा के परमात्मा तक आरोहण की कठिनता भासित हो, उन्हे प्रयोग समझकर एक झिटके के साथ नीचे उतार लेना चाहिए और वाच्यार्थवाला सीधा-सादा अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। इस कविता में किसी प्रकार का रहस्यवाद नहीं है। केवल देश-प्रेम को उद्दीप्त किया गया है।

नीचे की कविता मे स्वरूप-चिंतन के साथ-साथ भाव-चित्रण की रक्षा की गई है—

प्रिय मुदित दृग खोलो!

गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल नवकिरणों से धो लो—
मुंदित दृग खोलो।
जीवन-प्रसून वह वृंतहीन खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर बह चलीं चतुर्दिक् कर्म-लीन
तुम भी निज तरुण-तरंग खोल नव अरुण-संग हो लो—
मुंदित दृग खोलो।
वासना-प्रेयसी बार-बार श्रुति-मधुर मंद स्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के जीवन में, प्रिय आई बहार
बहती इस विमल वायु में बह चलने का बल तोलो—
मुंदित दृग खोलो।
(निराला)

'निरालाजी' की इस कविता में अभिव्यंजना का सौंदर्य सूक्ष्म निरीक्षण और भाषा प्रयोग-कौशल पर आश्रित है, छायावाद पर नहीं। कविता के संकलित सौंदर्य का प्रभाव उसकी भाव-सुकुमारता और मूर्तिमत्ता पर आश्रित है।

एक कविता को और उद्धृत करके अब यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

इस अबोध की अंधकारमय करुण कुटी पर करुणा कर
अए रंध्र-मग-गामी स्वागत, आओ मुसका उज्ज्वलतर।
रजत-तार से हे शुचि-रुचिमय हे सूची-से कृशतर-अंग।
इस अधीर की लघु कुटीर का—तिमिर चीरकर, कर दो भंग।

हे करुणा करके करुणाकर तुम अदृश्य बन आते हो,
रज-कण को छू, बना रजत-कण प्रचुरप्रभा प्रकटाते हो।
अरुण अधखुली आँखें मलकर जब तुम उठते हो छबिमय !
रंगरहित हो रंजित करते, बना हिमालय हेमालय।
तुम बहु-रंगी होने पर भी सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में मज्जित कर लो अपने साथ।
हे सुवर्णमय, तुम मानस में कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके विकसा दो पद-पद्म अमर।
और नहीं तो अपना ही-सा मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे-मग-गामी, दे दो, दिव्य अप्रकटगुण पावन।

(पंत)

इस कविता की पुकार सूर्य के प्रति है। वाच्यार्थ का प्रयोजन उसी के लिए है। परंतु स्थान २ पर कुछ ऐसे शब्द आ गए हैं, जिनके कारण एक ध्वन्यार्थ का भी आरोप होता चलता है। उसका विषय भगवान् हो सकता है। अतएव यहो पर समासोक्ति अलकार की पुष्टि दिखाई देती है। व्यज्यार्थ का विपय अध्यात्म है, परन्तु वस्तु-रूप में रहस्यवाद नही है। अतएव इस कविता को रहस्यवादी कहना भूल है।

अभिव्यंज्यजना पक्ष मे केवल समासोक्ति का अंचल पकडने से कोई कविता छायावादी नहीं कही जा सकती। छायावादी कविता की और विशेषताएँ इसमें नहीं हैं। अतएव यह छायावादी कविता भी नहीं है। वाच्यार्थ और ध्वन्यार्थ दोनो पक्षो का अर्थ स्पष्ट है। कहीं कहीं श्लेष द्वारा और कहीं-कहीं लक्षणा द्वारा शब्दों मे अर्थों का द्वैत

निर्वाहा गया है। कुछ शब्द अथवा वाक्य एकपक्षीय हैं। उनकी प्रतीति या तो वाच्यार्थ मे होती है या ध्वन्यार्थ मे, उभय पक्षो में नही। उदाहरणार्थ—

'अरुण की अधखुली आँखें मलकर
'बना हिमालय हेमालय'

अंतिम पंक्तियो मे तो बिल्कुल अंतिम पंक्ति छोड़कर पूरा झुकाव वाच्यार्थ की ही ओर हो जाता है। ध्वन्यार्थ की हलकी-से-हलकी आभा भी विलीन हो जाती है। 'पद-पद्म-भ्रमर' कहकर तो ऐसे व्यक्त रूप मे खुलकर ध्वन्यात्मकता से पीछा छुडा लिया गया है कि कविता की कला ही नष्ट हो गई है। परंतु यह कवि की आरंभिक कृति है। समझना केवल यह है कि आध्यात्मिकता की ओर वस्तु का अधिक झुकाव होने पर भी इस कविता मे किसी प्रकार के भी परोक्षवाद अथवा रहस्यमय परिस्थिति का उद्घाटन नहीं किया गया। स्पष्टतया इस कविता ने वस्तु-रूप मे रहस्यवाद को नही अपनाया है। अतएव यह रहस्यवादी कविता नही है। अभिव्यंजना मे समासोक्ति अलंकार का आशय इतना स्पष्ट है कि हम उसे छायावाद नही कह सकते।

मैथिलीशरणजी एक स्थान में उर्मिला के सौंदर्य-वर्णन के प्रसंग मे लक्ष्मण से कहते हैं—

नाक का मोती अधर की कांति से
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से

देख उसको ही हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ?

पहली पंक्ति में तद्गुण अलंकार का आभास है। इसी मे भ्रांतिमान् अलकार स्पष्ट है। हेतूत्प्रेक्षा तथा अर्थांतरन्यास का आरोप भी दिखाई देता है। इतने अलकारो की लपेट मे उक्ति का जो रूप सामने है, उसमे छायावाद ढूँढना व्यर्थ है। वह तो कोरा अलंकार-वाद है।

अलंकारो का प्रयोग वहीं तक श्लाघ्य है, जहाँ तक वह भावोत्कर्ष का साथ दे। कभी-कभी ऊहा के बल पर कवि नितांत उक्ति-वैचित्र्य मे फँस जाता है और भाव का मूल उसके हाथों से छूट जाता है। ऐसे अवसरों पर वह उक्ति केवल प्रदर्शन की वस्तुमात्र रह जाती है। यदि कोई कवि किसी सुन्दर रमणी को देखकर अन्योक्ति की निबधना मे यह कहे—

भ्रमर के मँडराने से आंदोलित पुष्प की आतरिक पंखुडियो से निकलकर ओस-बिंदु गुलाब के फैले हुए लाल दलो पर ढलता दिखाई दे रहा है।

—तो इस उक्ति मे कपोल भी हैं, नेत्र भी हैं, पुतली का सञ्चलन भी है, अश्रु भी है; अतएव रूप-सादृश्य के ध्यान से यह उक्ति एक बडे कारुणिक प्रसंग मे अदोष हो सकती है, और यदि भावसादृश्य की ओर विचार किया जाय, तो भी कोमलता के भार के कारण भावों की

भी सुकुमार उद्भावना होती है, परतु यदि कवि ऊहा के फेर में पडकर, छायावादी बनने की धुन मे, उक्ति में यो हेर-फेर कर दे—

पुष्प का हृदय चीरकर भ्रमर ओस के मोती निकालता है और गुलाब के लिए हार गूँथ-गूँथकर पहना रहा है।

—तो इस उक्ति मे 'चीरने और गूँथ गूँथकर पहने' मे जो 'सजग प्रयत्न' का भाव आ गया है, वह रस की तन्मयता के लिए घातक है। ऊहा से अत्यधिक काम लिया गया है। जो आनंद-विस्मरण भाव-विभोरता में होना चाहिए, वह सजगता के उद्दीप्त हो जाने से नष्ट हो जाता है; शृंगार भावविहीन होकर रसाभास हो जाता है। हास्य उत्पन्न हो जाता है। छायावादी कवियों को, जो अलकार की गूढ़ निबंधना के पोषक हैं, ऐसे दोष से बचना चाहिए।

— — — —

प्रो० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी—

छायावाद में प्रकृति-चित्रण

यद्यपि 'रहस्यवाद' या 'छायावाद' उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी कविता, तथापि इस नाम का नए सिरे से, नए रूप में और नए वातावरण मे प्रचार होने से इसके साथ नूतनता का अव्यभिचारी साहचर्य-सा हो गया है। और, इसमे संदेह नहो कि हमारी नवीन रहस्यवाद की कविताओ पर पश्चिमीय शेली, कीट्स आदि रहस्यवादी कवियों की भावनाओ की प्रत्यक्ष छाप लगी है। किंतु इसमें भी सदेह नहीं कि कवीद्र रवीद्र की अप्रतिम प्रतिभा ने अपने तथा अपने देश और समाज के विलक्षण वातावरण मे उन भावनाओं को इस प्रकार रँग दिया कि वे अब हमारी मौलिक संपत्ति हो चुकी हैं। उसी प्रकार हिंदी में भी ऐसे मौलिक रहस्यवादी कवियों का क्रमशः संतोष-जनक विकास हो रहा है, जो अपनी कृतियो और मनोवृत्तियों द्वारा एक अपूर्व युग का सृजन करने मे अग्रसर हो रहे हैं।

रहस्यवाद को दो विस्तृत विभागों में देखा जा सकता है—

(१) दार्शनिक रहस्यवाद

(२) कवि-सम्मत रहस्यवाद

(१) दार्शनिक रहस्यवाद की व्याख्या यों की जा सकती है—

रहस्यवाद 'विचार-धारा अथवा संभवतः भावना का वह प्रकार है, जो स्वभावतः किसी निश्चित परिभाषा के अयोग्य-सा ही हो। इसका आविर्भाव उस दशा मे होता है, जब मानव-मस्तिष्क परमात्म-तत्त्व अथवा पदार्थों की चरम सत्यता का ग्रहण करने एवं उस परम सत्ता से संपर्क का आनंद लूटने की चेष्टाएँ करता है'। ऐसी चेष्टाओं ने भारत मे मुख्यतः निम्न-लिखित रहस्यवादी सिद्धांतों का जन्म दिया—

(क) बौद्ध शून्यवाद (Nihilism)

(ख) ब्राह्मणीय सर्वात्मवाद (Pantheism)

फारस का सूफी मत भी आध्यात्मिक रहस्यवाद के अंतर्गत आता है, और हाफिज तथा सादी कवियों ने अपनी कविता मे इसे समाविष्ट किया है। पश्चिम में ग्रीस मे, ईसा की पहली दो-तीन शताब्दियों में रहस्यवाद ने फलने-फूलने के लिए उचित क्षेत्र पाया था, और नव-प्रतनुवाद (Neo-platomism)—जिसके प्रचारकों में प्लॉटिनस प्रधान था—ने इसे अपनाया था। मध्ययुग मे भी योरप में सेंट बर्नार्ड आदि दार्शनिकों ने रहस्यमय भावनाओ की शरण ली थी। उसकी विचारधारा—'अपने को किसी प्रकार खो देना, मानो तुम रह ही न जाओ, और तुम्हारी अपनी चेतना का बिलकुल लुप्त हो हो जाना—अपने मे से आप खाली हो जाना, नहीं हो जाना—यह है भगवान् के साथ संलाप। इस प्रकार प्रभावित होना क्या है, मानो भगवान् के साथ एक हो जाना। ....सो उस परम पावन

परमात्मा के प्रति सारी भावनाओं का अपने मे ही एक अवर्णनीय रूप में विलीन हो जाना अनिवार्य है, जिसमे वे सर्वतोभावेन परमात्मा की ही इच्छा मे परिणत हो जायँ।

भाव-भेद और प्रगति-भेद से रहस्यवादियों के चार प्रकार माने गए हैं—

(क) भक्ति-उपासक (Devotional mystics)

(ख) तार्किक (Rational mystics)

(ग) प्रकृति-उपासक (Nature mystics)

(घ) प्रेमोपासक (Love mystics)

(२) किंतु दार्शनिक रहस्यवाद की चर्चा हमारे लिए विषयांतर होगी, अतः कवि-सम्मत रहस्यवाद के रहस्य का उद्घाटन ही हमारा ध्येय होगा।

हिंदी मे आदिम रहस्यवादी कवि हुआ है कबीर ; यद्यपि कबीर के रहस्यवाद और अब के रहस्यवाद मे एक अंतर है। कबीर क रहस्यवाद सतोषमय है, हमारा असंतोषमय। कबीर ने भौतिकता पर लात मार कर काल्पनिक रहस्यमयता का आश्रय लिया था, हम भौतिकता की असफल कामना से हार मानकर, लाचारी से काल्पनिकता का आश्रय ले कर उससे 'खट्टे अंगूर कौन खाय'—वाली बेबसी की संतुष्टि धारण करने की कोशिश करते हैं। यही बात कीट्स और शेली के संबंध मे थी। दोनों के जीवन दुखद थे; असतोष-पूर्ण थे। वही

नवयुवक कीट्स, जो एक दिन 'वासनाजन्य जीवन' के सम्मुख 'विचारमय जीवन'* का तिरस्कार करता था, जिसका धर्म था सांसारिक प्रेम, और सासारिक प्रेम ही जिसका कर्म+ था, वही, वही छब्बीस वर्ष का नवयुवक कीट्स आज मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ असंतोष की विषम ज्वाला मे जलता है, और उस घडी की कल्पना करता है, 'जब प्रेम और ख्याति अनस्तित्व मे विलुप्त हो जाती×है।' आह! कितना भीषण असंतोष! कितनी दर्दनाक कसम! शेली! जब तूने यह गाया था—

मधुरतम वे ही हमारे गान हैं;
विधुरतम जिनमें भरे अरमान है÷।

तब क्या तूने अपने बेबस कलेजे को फुसलाने की कोशिश न की थी? मनुष्य एक विचित्र पहेली है, प्रकृति से ही वह शांति-प्रिय है, किंतु प्रकृति से ही वह इतना सीमित है कि उसे सच्ची शांति प्रायः मिलती ही नही। उसकी भौतिकता, उसकी काल्पनिकता का बडे वेग से पीछा करती है, कितु कभी पार नही पाती। और मनुष्य हार भी

---

*"O, for a life of sensations rather than of thoughts"

+"Love is my religion . my creed is love."

×"Till love and fame to nothingness do sink."

÷"Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts."

मानना नहीं चाहता। अतः अपनी भौतिकता की सीमा को काल्पनिक निःसीमता के रूप में उसकी सांतता को काल्पनिक अनंतता के रूप में, परिणत करना चाहता है, और इस प्रकार वह उस शाति को पाना चाहता है, जिसकी खोज उसकी प्रकृति का एक अनिवार्य अग है। इस चेष्टा में सफलता-पूर्वक मनुष्य जिस काव्यमय भावना-संसार का निर्माण करता है, उसका रहस्यमय होना निश्चित है, क्योंकि वह निरा भौतिक और निरा काल्पनिक न होते हुए भी दोनों का अपूर्व समन्वय है ही।

(ख) इस अपूर्व रहस्यमय समन्वय का एक व्यापक निदर्शन है प्रकृति में प्रेयसी का आरोप अथवा मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना। जिस समय कवि गाता है—

निर्झर सरिता में जा मिलते, सरिताएँ जा सागर में,
गगन पवन मिलते हैं भरकर मधुर भावना अतर में।
कोई नहीं विश्व में विरही, सभी बँधे दैवी क्रम से ;

मिलते-जुलते सम भावों में, क्यों न मिलूँ मैं भी तुमसे ?*

उस समय वह प्रकृति के पदार्थों में मानवीय आवेगो का अध्यारोप करता है अर्थात् मानव-जीवन मानवेतर जीवन में तादात्म्य की कल्पना करता है। उसी प्रकार पंत की—

---

*The Fountains mingle with the River
And the Rivers witht he Ocean,
The Winds of Heaven mix for ever

खैंच एचीला-भ्रू-सुरचाप—शैल की सुधि यों बारंबार—
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झलमल हार;
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र पलक पल-पल चपला के मार
भग्न उर पर भूधर सा हाय ! सुमुखि ! धर देती है साकार !

इन पंक्तियों में 'प्रकृति सुंदरी में सुमुखि' का रूप देखा गया है ; प्रकृति-सुंदरी की सत्ता में सुमुखी की सत्ता विलीन हो चुकी है। देखिए श्रीमती महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ—

तारकमय नव - वेणी - बंधन ;
शीशफूल कर शशि का नूतन ;
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन ,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ आ वसंत-रजनी !

जिनमे 'वसंत-रजनी' में उन्हीं आभरणों का मान किया गया है, जिनसे हम किसी रमणी को सजाते हैं।

With a sweet emotion ;
Nothing in the world is single ;
All things by a law divine,
In one spirit meet and mingle ;
Why not I, with thine ?

—Shelley.

प्रकृति में प्रेयसी का आरोप अनादि काल से, अर्थात् जबसे कविता है, तब से होता चला आया है; किंतु फिर भी इस तरह के सभी आरोपों को हम छायावाद या रहस्यवाद में परिगणित न करेंगे और इसके विश्लेषण के उद्देश्य से कविता की विशिष्ट प्रगतियों को निम्नलिखित 'वादों' मे विभक्त करेंगे, और प्रत्येक की आलोचना करने का प्रयत्न करेंगे। वे ये हैं—

२ वस्तुवाद
अथवा केवल वस्तुवाद (१)
२ चित्रवाद
३ बिंबवाद
अथवा केवल छायावाद (२)
४ छायावाद

वस्तु होती है ठोस, और होती है उसमें लंबाई, चौड़ाई, गहराई तीनों, किन्तु चित्र में लम्बाई, चौडाई तो होती है, गहराई नहीं होती। फिर भी चित्र वस्तु की नकल हुआ करती है और चित्र में उसीं स्थूलता की प्रतीति की जाती है, जो वस्तु में विद्यमान होती है। वस्तु और चित्र इयत्ता का भेद है किंतु ईदृक्ता का नहीं। अतः वस्तुवाद और चित्रवाद, इन दोनों को हम वस्तुवाद में ही समाविष्ट करना उचित समझते हैं। स्थूल पदार्थों का स्थूल रूप से चित्रण वस्तुवाद कहा जायगा। और, इसके उदाहरण हमारी प्रचीन प्रायः सभी कविताएँ हैं। यथा सूर का बाल-रूप-वर्णन—

जसुमति मन अभिलाषु करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।

कब द्वै दंत दूध के देखौं, कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहिं कहि बाबा बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै।

जिसमें स्थूल बालरूप का स्थूल और स्पष्ट चित्रण किया गया है*। ऐसे ही हैं तुलसी के पावस-वर्णन अथवा भारतेंदु के तरणि-तनूजा अथवा जाह्नवी के वर्णन। इस वस्तुवाद की कविता मे भी प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप होता है, और होता चला आ रहा है।

---

* इस वर्णन के साथ रवींद्र के शिशु का वर्णन मिलाइए, और देखिए, रवींद्र का शिशु कितना रहस्यप्रिय और रहस्यमय है, अपने दादा (बडे भाई) से कितना अधिक चतुर और तत्वज्ञ है—

सुने दादा हेसे केनो
बोल ले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका।
चॉद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुंइ"।
आमी बोलि—दादा, तुमी
जानो ना किच्छुइ
मा आमोदेर हासे जखन
बइ जानलार फाँके,
तखन तुमि बोलबे कि मा
अनेक दूरे थाके ?'
तबू दादा बोले आमाय—'खोका,
तोर मतो आर देखी नाई तो योका'।

किंतु उसे हम छायावाद नहीं कहेगे, क्योंकि वह आरोप उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलकारो और वाग्वैचित्र्यों का परिणाम है। उस आरोप में इतनी ताकत नही कि मानव और मानवेतर जगत् में अभेद स्थापित कर सके, क्योंकि कवि की कल्पना रमणी के सौंदर्य को तिरस्कृत करके प्रकृति के सौंदर्य की उपासना नहीं कर सकी थी, रमणी को सिहासन-च्युत करके प्रकृति को सिहासनासीन करने में असमर्थ थी। इसमें सदेह नही कि जिस समय कालिदास कहते हैं—यदि पशुओं मे लज्जा होती, तो पार्वती के केश पाश को देखकर चमरी गौएँ अपने बालों से प्रेम करना छोड़ देती—उस समय वह मानवेतर हृदय मे मानव-आवेग—लज्जा—का आरोप करते हैं। किन्तु फिर भी हम इस कविता को वस्तुवाद की श्रेणी से ऊपर उठने नहीं दे सकते। इस आरोप मे स्थूलता है, स्पष्टता है, लेश-मात्र भी रहस्यमयता नही; आलकारिकता है, कृत्रिमता है, किंतु अभेद की प्राकृतिकता नही। इस श्रेणी में हम विद्यापति की वह कविता रक्खेंगे, जिसमे उसने मालती और मधुकर मे प्रेयसी और प्रियतम का भान किया है—

> मालति! सफल जीवन तोर।
> तोर विरहे भुवन भम्मए
> मेल मधुकर भोर। मालति ...... !

इसके विपरीत, कबीर की ये रहस्यमय उक्तियाँ देखिए, जिनमें आधुनिक भाषा मे मानव-जीवन की गूढ़ता की ओर संकेत किया गया है—

काहे री नलिनी ! तू कुम्हिलानी ;
तेरी ही नालि सरोवर पानी ।
जल में उतपति, जल में वास ;
जल में नलिनी ! तोर निवास ।
ना तल तपति, न ऊपर आगि ;
तोर हेत कहु कासनि लागि ।
कहै कबीर जे उदिक समान ;
ते नहीं मूए हमरे जान ।

कविता को वस्तुवाद के सम तल से ऊपर उठकर 'छायावाद' के व्योम-वितान में विचरण करने के लिए रहस्यमयी कल्पना के पंखों पर उड़ना आवश्यक है । और, तभी वह शेली के शब्दों में 'अपनी रहस्यमयता के कारण प्रिय एव प्रियतर हो सकेगी'*, यथा कवींद्र रवींद्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

प्रभाते गाहिबि, प्रदोषे जाहिबि,
निशीथे गाहिबि गान,
देखिबा फुलेर नगन माधुरी ..

इत्यादि

* 'Dear and yet dearer for its mystery.'
—Shelley

जिनमे कवि फूल की नग्न माधुरी और उद्दाम सौंदर्य देख-देखकर गाते गाते नही अघाता।

अथवा निम्नलिखित—

खेला छले काछे आसिया लहरी
चकिति चुमिया पलाए जावे,
शरम - विमला कुसुम रमणी
फिरावे आनन शिहरि अमनी
आंवशेते, शेषे अबश होइया
खसिया पडिया जावे।

जिनमे कुसुम-रमणी की लज्जा, उसकी सिहर और उसका म्लान होकर पतन एवं अवसान इस कला-वैचित्र्य से वर्णित हैं, जिसमे हम कुसुम और रमणी के भेद का भान कर ही नहीं पाते। कवि की प्रतिभा ने अपने जादू के डडे से छूकर कुसुम को रमणी बना डाला, और इतनी खूबसूरती से कि हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं, देखते हुए भी विभोर हो जाते हैं, समझते हुए भी ठिठक-से जाते हैं; हमारा अलकारो का ज्ञान काम नही आता। यही रहस्यमयता इस कविता की विशेषता है। 'छायावाद की कविताएँ व्यंजना और ध्वनि-प्रधान होती हैं'। और, इसी के बल पर वह वस्तुवाद की संकुचित परिधि से निकल छायावाद के विस्तृत व्योम में विहार करने लग गई हैं।

यहाँ हम यह उचित समझते हैं कि जिस प्रकार वस्तु और चित्र

का अंतर दिखलाया गया है, उसी प्रकार वस्तु और छाया में भी दिखलाया जाय। जब मानव-हृदय पर मानवेतर प्रकृति प्रतिफलित हो तो वह प्रतिफलन बिंब होगा, और इसके विपरीत जब मानवेतर प्रकृति पर मानव-मनोवृत्ति प्रतिफलित हो, तो वह प्रतिफलन छाया होगी। प्रथम अर्थात् बिंबवाद का उदाहरण जिसमें मानव-हृदय आधार हो, और मानवेतर प्रकृति आधेय—

पत्ते में मैं पत्ती बनकर कभी-कभी था लहराता ;
फूलों की फिर पंखुड़ी होकर कभी-कभी हँसता जाता,
किंजल्कों में बैठ, प्रमुद हो करता अपना ही दर्शन ;
कहीं बैठता, कहीं सोचता, करता सिद्ध कहीं साधन।
विश्व-विजय करने के हित मैं विश्व-राग मन से गाता,
विश्व रूप मेरा धारण कर मेरे सम्मुख आ जाता—
मेरे भावों का मुझमें ही प्रतिबिंबित होकर आना ;
मैं ही दर्पण, दृश्य-ज्योति मैं, दर्शक मेरा बन जाना।

द्वितीय अर्थात् छायावाद का उदाहरण, जिसमें प्रकृति आधार है, और मानव-मनोवृत्ति आधेय—

कैसी अखंड यह चिर-समाधि ! यतिवर ! यह कैसा अमर ध्यान ?
तू महा शून्य में खोज रहा किस जटिल समस्या का निदान ?

उलझन का कैसा विषम जाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल ! ('दिनकर')

उपर्युक्त पंक्तियों में 'हिमालय' में यतिवर-हृदय का आरोप किया गया है। अथवा रवींद्र की ये पंक्तियाँ—

तारि मुख देखे-देखे आंधार हासिते सेखे
तारि मुख चेये-चेये करे निशि अवसान
सिहरि उठे रे वारि दोले रे दोले रे प्रान

जिनमें अंधकार हमारे ही समान हँसना सीखता है, और सलिल सिहर उठता है। अथवा पंत जी की उक्ति छाया के प्रति—

कौन-कौन तुम परहित वसना, म्लान-मना, भू-पतिता-सी ?
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुंतला किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिन हो तुम मुझ-सी सजनि ! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो, मैं उनके पद की छाया ॥

श्री जयशंकर 'प्रसाद'—

छायावाद

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिंदी मे उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से--जिसमें वाह्य वर्णन को प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नए ढग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा वाह्य स्थूल आकार मे भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिंदी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमे एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति कर प्रयास किया गया।

वाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नए प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्द की

योजना हुई, हिंदी में पहले वे कम समझे जाते थे; किंतु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ-द्योतन करने मे सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण मे शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य मे मान्य हुए।

अभिव्यक्ति का वह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग मे लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य मे छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगो ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध्य कवि का ही काम है। वैदग्ध्य भंगी भणिति मे शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है।

कभी-कभी स्वानुभाव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—'वे आँखे कुछ कहती हैं'। किंतु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया। यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य,

पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, नहीं है, किंतु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहेन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

'निरहंकार मृगांक', 'पृथ्वी गतयौवना', स्वेदनमिवाम्बर', मेघ के लिए 'जनपद बधु लोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम-शर के लिए 'विश्वसनीयमायुध' — ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सदृश्य को प्रकट करने वाले हैं। इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ बहुत मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है।

हिंदी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परतु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढग को ग्रहण करना पडा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। वाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति अन्तर की ओर चल पडी।

जब 'वहित विकल कायेन मुंचति चेतनाम्' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्म-स्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने मे समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारो के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिंदी मे आरम्भ के छायावाद ने अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्तक के शब्दो मे 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' के के कारण कुछ लोग इस छायावाद मे अस्पष्टवाद का भी रग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो। वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दो का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परंतु सिद्धांत में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है; इसलिए प्रकृति-काव्यगत

व्यवहार मे ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धात भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा मे होने लगा है; किंतु प्रकृति से संबध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नही कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कातिमयी होती है।

डा० देवराज—

छायावाद में असामञ्जस्य
विचारगत और रागात्मक

बुद्धि की सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक परिभाषा यह है कि वह सम्बन्धो को देखने एवं स्थापित करने की शक्ति है। व्यावहारिक क्षेत्र में हम चतुर पुरुष उसे कहते हैं जो साध्य और साधनो के सम्बन्ध को शीघ्रता से देख लेता है—किसी प्रश्न के सामने आते ही जिसकी दृष्टि शीघ्रता से उसके हल या हल के उपायों पर पहुँच जाती है। प्रतिभाशाली वैज्ञानिक असंबद्ध दीखनेवाली घटनाओं में सम्बन्ध-सूत्र खोज निकालता है जिसे हम प्राकृतिक नियम कहते हैं। इसी प्रकार प्रतिभाशाली समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं मे तथा राजनीति-विशारद राजनैतिक परिवर्तनो मे व्यवस्था या शृंखला स्थापित कर देता है। हमारे लेखों या रचनाओ में भी शृंखला, व्यवस्था अथवा आन्तरिक सामञ्जस्य के रूप मे हमारी बुद्धि प्रतिफलित रहती है। किसी लेखक या विचारक की महत्ता के दो मानदण्ड हैं—प्रथमत; हमें देखना चाहिए कि उसकी दृष्टि कितनी व्यापक है, उसके अनुभव की परिधि कितनी विशाल है और दूसरे यह कि उसके अनुभव-खण्ड—जिन्हें उसने भाषागत अभिव्यक्ति

दी है—कहाँ तक परस्पर सबद्ध हो सके हैं। जीवन अथवा विचारगत विविधताओं को संबद्ध रूप मे पाठकों के सामने रख सकना प्रतिभाशाली लेखको की अन्यतम विशेषता है।

रचना-कला के उक्त नियम का कविता अपवाद नही है। जैसा कि मनोविज्ञान बतलाता है, बुद्धि और हृदय दो भिन्न शक्तियाँ नही हैं, वे एक ही चेतना के व्यापृत होने के दो ढग हैं। अतः यह समझना भूल है कि कवि अथवा कविता का बुद्धि से कोई सरोकार नही है। वस्तुतः प्रत्येक कवि में प्रतिभा के अनुरूप बुद्धि भी होती है, महान् कलाकार मे व्यापक दृष्टि के साथ महती बुद्धि भी प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक अच्छे कलाकार में कम-से-कम इतनी बुद्धि अवश्य रहनी चाहिए जिसके द्वारा वह अपनी अनुभूतियों को सामंजस्ययुक्त गठन या एकता दे सके। वस्तुतः श्रेष्ठ कलाकार की अनुभूति की, साधारण लोगो की तुलना मे, यह विशेषता होती है कि वह जीवन एवं जगत की सार्थकताओं को सबद्ध रूप मे ग्रहण करती है। अच्छे कवियो या साहित्यकारो की रचना मे अनुभूति के विविध अवयवों का ऐसा क्रमिक विन्यास, भावो का ऐसा व्यवस्थित आरोह-अवरोह रहता है कि पाठक बिना किसी असाधारण अवधान या प्रयास के उनके आशय को हृदयंगम करता और उसमें रस-लीन होता चलता है। तुलसी और कालिदास के काव्यो मे हम यही पाते हैं।

विचारगत अथवा बौद्धिक (Logical) क्रम एवं सामञ्जस्य सब प्रकार की श्रेष्ठ रचना में होता है; दर्शन, भौतिक तथा अन्य शास्त्र, आलोचना, कोई क्षेत्र इसका अपवाद नहीं है। साधारणतः

श्रेष्ठ काव्य में भी इस प्रकार का सामंजस्य रहता ही है; रामचरित-मानस, मेघदूत, रघुवंश और शकुन्तला, शेक्सपियर के नाटकों आदि मे प्रायः कहीं भी यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग नहीं मिलेगा। वर्ड्सवर्थ, कीट्स और रवींद्र की अधिकांश गीत-कविताओं के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है। किन्तु कवि शेली में यह क्रम या सामंजस्य कुछ कम मिलता है।

कविता जैसी कोमल वस्तु के बौद्धिक विश्लेषको को कुछ लोग शका की दृष्टि से देखते हैं; शेली के साहित्यिक मूल्यांकन में मत-भेद इसका प्रमाण है। बात यह है कि कविता में हम यौक्तिक क्रम के निर्वाह की उतनी अपेक्षा नही करते, वहाँ हम रागात्मक सामञ्जस्य की विशेष कामना करते हैं। वस्तुतः यौक्तिक क्रम की अपेक्षा रागात्मक सामञ्जस्य उच्चतर वस्तु है, उसका निर्वाह बौद्धिक धरातल के ऊपर अथवा उसे छोड़कर भी हो सकता है*। शेली की 'पश्चिम प्रभंजन' कविता मे इसी प्रकार का रागात्मक सामञ्जस्य है। जहाँ कविता का भाव-क्रम हमारी रागात्मिका वृत्ति अथवा रसानुभूति को अकुंठित आनन्द देता है वहाँ यौक्तिक क्रम को लेकर आलोचना करना पांडित्य-प्रदर्शन (Pedantry) सा लगता है। किन्तु यहाँ

---

*—काव्यगत तत्त्वो में जीवन सम्बन्ध (organic order) होना चाहिए जो यौक्तिक क्रम का विरोधी न होते हुए उससे उच्चतर वस्तु है। ऐसा सम्बन्ध ही रागात्मक सामञ्जस्य की अनुभूति उत्पन्न करता है।

यह याद रखना चाहिए कि रसानुभूति एवं यौक्तिक व्यवस्था का विशेष विपर्यय होगा तो वह रसानुभव को अवश्य ही क्षत करेगा।

जिन आलोचकों मे रस-ग्रहण की क्षमता कम विकसित रहती है, वे प्रायः काव्य-विशेष के युक्तिगत या विचारगत क्रम को लेकर वाद-विवाद करने लगते हैं और ऐसी व्यञ्जनाओ मे दोष निकालने लगते है जो वास्तव मे रसानुभूति को हानि नही पहुँचाती। ऐसी आलोचना सहृदयो को खलती है। उदाहरण के लिए कुछ परीक्षको ने—जिनमें शुक्लजी भी सम्मिलित हैं—छायावादी कवियों के 'स्वर्ण-युग', 'स्वर्ण-स्वप्न' आदि प्रयोगो से घोर असन्तोष प्रकट किया है और 'शेखर : एक जीवनी', 'साकेत—एक अध्ययन', 'गद्यमय जीवन' आदि को भी कड़ी दृष्टि से देखा है। इसके विपरीत, हमारा विचार है कि साहित्यिक आलोचना मे रसानुभूति तथा रागात्मक सामजस्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्तु इस कसौटी का प्रयोग नितान्त कठिन है। रागात्मक सामंजस्य का निर्णय करने के लिए जिस सूक्ष्म अनुभव-शक्ति की अपेक्षा है वह कम पाठकों में रहती है। इसलिए इस क्षेत्र मे आलोचनागत धाँधली तथा मिथ्या आरोपों की काफी गुंजाइश है। ऐसी दशा में ईमानदार आलोचक पाठको की सहृदयता के उन्मेष मे, उनकी रसानुभूति को उच्चतर धरातल पर साथ ले चलने की सम्भावना में, विश्वास करके ही आगे बढ सकता है।

कविता मे यौक्तिक या विचारगत क्रम का भंग वहीं क्षम्य हो सकता है जहाँ वह रसानुभूति को क्षति नहीं पहुँचाता। किन्तु ऐसा कम अवसरो पर होता है—जब कवि का रागात्मक स्फुरण अथवा

प्रेरणा विशेष तीव्र हो। रागात्मक तीव्रता विभिन्न भावों की युक्तिगत असंगति या दूरी को मानों अपने आवेश-आवेग से आप्लुत कर देती है। शेली की उल्लिखित कविता में यही होता है। इसके विपरीत, कल्पना-बहुल काव्य में, जहाँ अनुभूति या प्रेरणा प्रबल नहीं होती यौक्तिक विशृंखलता प्रायः रसानुभव में विघ्न उपस्थित करती है।

कभी-कभी विचारगत क्रम के निर्दोष दीखने पर भी रागात्मक सामंजस्य की कमी हो सकती है, पर प्रायः ऐसे स्थलों में, सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा, यौक्तिक क्रम-भंग दिखाया जा सकेगा। अतः जहाँ काव्य की परीक्षा मे सहृदय-संवेद्य रागात्मक सामंजस्य को प्रधानता देनी चाहिए, वहाँ यौक्तिक क्रम को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए। दूसरे, रागात्मक क्रम-भंग को प्रमाणित करने के लिए प्रायः सर्वत्र रचना का यौक्तिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः यौक्तिक विवेचना रसानुभूति की विरोधी न होकर उसके स्पष्टीकरण का अस्त्र है, और आलोचना में उससे डरना या उसे बचा कर चलने की चेष्टा हास्यास्पद है। हमारा अनुरोध केवल यही है कि प्रत्येक दशा मे अन्तिम निर्णय रसग्राहिका वृत्ति के हाथ में रहना चाहिए।

छायावाद की बहुत-सी रचनाओं में विचारगत सामंजस्य का अभाव दिखाई देता है, और वह क्षम्य कोटि का नहीं, वह रसानुभूति में बाधक होता है। और जहाँ साधारणतया देखने में विचारात्मक क्रम-भंग नहीं दीखता, ऐसा रागात्मक असामंजस्य भी पाया जाता है। नीचे हम विशेष कवियों में इन दोनों के उदाहरण देखेंगे।

'निराला' जी की रचनाओं मे युक्तिगत क्रम का भग या अभाव प्रायः दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप वे पाठकों को दुरूह लगती हैं, उनकी समझ में ही नहीं आती। यह समझना भूल होगी कि 'निराला' जी की सब कविताएँ ऐसी हैं—वे पूर्णतया सुस्पष्ट रचनाएँ भी कर सकते हैं, पर, न जाने क्यों, अपनी काफी रचनाओ में वे स्पष्ट नहीं रह सके हैं। इसका कारण दार्शनिकता या रहस्यवाद में ढूँढ़ना अन्धकार-प्रियता का द्योतक है—कुछ लोगो मे सीधी बात को भी रहस्यमय देखने या प्रकट करने की विचित्र प्रवृत्ति होती है। सीधे शब्दों में हम इसे कलाकार की असमर्थता का प्रमाण मानते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-
कनक सींचे नयन जल में
जब कहीं झड जायँगे वे
कह न पाएगी
वह हमारी मौन भाषा
क्या सुनाएगी ?
दाग जब मिट जायगा
स्वप्न ही तो राग वह कहलायगा
फिर मिटेगा स्वप्न भी निर्धन

गगन-नभ-सा प्रभा-पल में
तुम्हारे प्रेम-अञ्चल में
[परिमल—निवेदन]

यहॉ कवि वस्तुतः क्या कहना चाहता है, उसका केन्द्रगत भाव क्या है, यह बिलकुल स्पष्ट नही है। शब्द समझ मे आते हैं, पर उनका सम्बन्ध एक पहेली मालूम पडता है। नयन-जल से सींचे कन-कनक कौन से हैं? उनसे लिपट कर स्मृति बनने का रोदन रुकने से क्या सम्बन्ध है? फिर उनमे झडने की क्या सार्थकता है? और इस एक परिस्थिति से—कन कहॉ झड गये इस अज्ञान से—भाषा मौन क्यो हो जायगी? दाग कौन सा है जो मिट जायगा? इत्यादि; प्रायः प्रत्येक पक्ति के आगे प्रश्नवाचक लगाया जा सकता है। सपूर्ण कविता पढ कर एक विचित्र खीझ और परेशानी होती है। दूसरी कविता, उसी के आगे की, लीजिए,

जीवन प्रातसमीरण-सा लघु
विचरण निरत करो
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो

पहली पंक्ति साफ है, पर दूसरी पक्ति घण्टों सिर खरोचने पर भी समझ मे नही आती। क्या यह पाठक का ही दोष है, और कवि उसके लिए बिलकुल जिम्मेदार नही है? आगे की पंक्तियॉ भी विषय को स्पष्ट नहीं करतीं,

अंचल सा न करो चचल
क्षण-भगुर
नत नयनों में स्थिर दो बल,
अविचल उर
स्वर-सा कर दो अविनश्वर
ईश्वर-मज्जित
शुचि चन्दन-वन्दन-सुन्दर
मन्दर-मज्जित
मेरे गगन-मगन मन में अयि
किरणमयी विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण इत्यादि ।
[परिमल—प्रार्थना]

यह तो समझ में आता है कि कवि किसी किरणमयी से प्रार्थना कर रहा है, पर वह किरणमयी कौन है जो जीवन को प्रात-समीरण सा लघु आदि करने की क्षमता रखती है—यह बिलकुल स्पष्ट नहीं है। ....अंचल सा चंचल न करो—यह तो ठीक है, पर क्षणभंगुर विशेषण की क्या सार्थकता है ? अंचल में क्षणभगुरता की प्रतीति विशेष रूप में नहीं होती। इसी प्रकार 'नयनों' के 'नत' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट नही है। पर शायद यह शिकायतें व्यर्थ हैं जब कि पूरी कविता ही निरर्थक शब्दाडम्बर प्रतीत होती है।

बाद की रचनाओं में भी 'निराला' जी ने स्पष्टता की दिशा में

उन्नति नहीं की है। 'अनामिका' की प्रारंभिक दस कविताएँ प्रायः सभी अस्पष्ट या दुर्बोध हैं। 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' कविता, एक प्रसिद्ध घटना से संबद्ध होते हुए भी, बुद्धिगम्य नहीं है। पहला पद्य ही देखिए।

क्षीरण अराल:—
बज रहे जहाँ
जीवन का स्वर भर छन्द, ताल
मौन में मन्द्र,
ये दीपक जिसके सूर्य चन्द्र,
बँध रहा जहाँ दिग्देशकाल,
सम्राट उसी स्पर्श से खिली
प्रणय के प्रियंगु की डाल-डाल।

यहाँ 'जिसके' और 'उसी' पदों का सबन्ध बिलकुल स्पष्ट नहीं है, इसीलिये पूरा पद्य अस्पष्ट है।

'निराला' जी का 'तुलसीदास' भी अस्पष्टता-रोग से पीड़ित है, और 'गीतिका' तो साधारण पाठक के समझ में आने योग्य है ही नहीं। इन साधारण पाठकों में लेखक अपनी भी गिनती करता है। पुस्तक के अन्त में दी हुई टिप्पणियों के बिना तो वह उसे पढ़ने का साहस ही नहीं कर सकता था। यदि ये टिप्पणियाँ कवि की सहायता से लिखी गई हैं तो वे 'निराला' जी को अस्पष्टता-दोष से मुक्ति नहीं देतीं, और यदि टिप्पणीकार ने स्वयं लिखी हैं तो वे उसके पाण्डित्य

एवं अर्थ-स्थापन-क्षमता का अद्भुत निदर्शन हैं। दो-एक उदाहरण देखें—

पावन करो नयन !
रश्मि नभ-नील पर
सतत शत रूप धर
विश्व-छवि में उतर
लघु कर करो चयन !
प्रतनु शरदिन्दु-वर
पद्म-जल-बिन्दु पर
स्वप्न-जागृति सुघर
दुख निशि करो शयन !

[गीतिका, ६]

कविता रश्मि को संबोधित है। (यह सब टिप्पणीकार का अनुसरण करके कहा जा रहा है।) 'नभनील पर' का अर्थ है नीले आसमान में रहने वाली, 'लघुकर' का अर्थ है हलके हाथ से (क्रिया-विशेषण)। कवि नील-नभ-वासिनी किरण से कहता है कि विश्व-छवि में उत्तर कर चयन करो। किस वस्तु या किन चीजों का? यह स्पष्ट नहीं है। संतत विशेषण की सार्थकता भी समझ में नहीं आती। ....दूसरा पद्य और भी दुर्व्याख्येय है। 'प्रतुन' का अर्थ है दुबली-पतली, कोमलांगी; शरदिन्दुवर=(तुम्हीं) शरत्काल का सुन्दर चन्द्र (हो)—[यह अर्थ शब्दों से नहीं निकलता, टिप्पणीकार के अनुरोध से ही माना जा सकता है।] पद्म-जल-बिन्दु=कमल के

आँसू [यह अर्थ भी स्वतः नही निकलता, पद्म पर जल-कन रहते हैं, उन्हें आँसू मानना आवश्यक नही ।] स्वप्न-जागृति-सुघर=उसके स्वप्न मे सुघर जागृति बन कर, अर्थात स्वप्न में प्रकाश के कारण कमल को जागृति का सुख प्राप्त होगा, इसलिए तुम उसकी सुघर जागृति बनकर उस कमल की दुख-रात्रि में उसके आँसुओं पर शयन करो।

टिप्पणियो की सहायता से कविता का अर्थ लग जाता है, पर यह अर्थ लग जाना ही काफी नही है; भावो मे संगति भी होनी चाहिए। रश्मि को कमल के आँसुओ पर सुलाने का आयोजन करते समय उसे शरदिन्दुवर कहना क्या सार्थकता रखता है ? परम्परा के अनुसार तो चन्द्रमा कमल को अप्रिय है। फिर रश्मि का साधारणतया चन्द्रमा से सादृश्य भी नही है—यहाँ सादृश्य ही नही, अभेद-कथन है, 'तुम्ही शरदिन्दु हो' ।……… ….इसके अतिरिक्त दूसरे पद्य मे रश्मि को जो काम करने का आदेश हुआ है उसके लिए पद्य की भूमिका समीचीन नही मालूम पड़ती । एक दूसरा गीत लीजिए जो सम्भवतः दार्शनिक है,

कौन तम के पार—(रे कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग
गगन घन-घन-धार—(रे कह)
गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर-कच कर कमल मुख पर;
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज बारम्बार !—(रे कह)

हमारा विश्वास है कि कोई भी पाठक, मात्र अपनी बुद्धि और कोश की सहायता से, इस पद्य का अर्थ नहीं कर सकता। टिप्पणी के अनुसार 'अखिल-पल के स्रोत' का अर्थ है, 'काल स्वरूप के पल के प्रवाह' तथा 'जल-जग' का अर्थ है, स्थावर-जंगम; फलितार्थ—यह स्थावर-जगम अखिल के पल के प्रवाह हैं। 'गगन घन-घन-धार'—आकाश ही घनीभूत होकर मेघ की धारा बनता है। वास्तव मे 'अखिल' का अर्थ 'काल-स्वरूप' नहीं हो सकता और 'जल-जग' स्थावर-जंगम का वाचक नही है। 'गगन घन-घन-धार' व्यञ्जना सुन्दर तथा सगीत-पूर्ण है, पर साधारणतया निरर्थक है। रहस्यमय उपनिषदों मे भी ऐसी रहस्यपूर्ण पदावली कम होगी। हम यह नहीं कहते कि 'निराला' जी जान-बूझ कर निरर्थक या अस्पष्ट रचना मे प्रवृत्त होते हैं, और न यह कि टिप्पणीकार ने जो अर्थ निकालने की कोशिश की है वे कल्पित हैं; हमारा अनुमान है कि 'निराला' जी के सोचने तथा व्यक्त करने का ढंग कुछ ऐसा असाधारण (Abnormal) है कि उनकी अनुभूति का 'साधारणीकरण' नही हो पाता।

किन्तु ऐसी दशा मे पाठकों को दोष देना घोर अन्याय है। साधारण विद्या-बुद्धि के पाठक 'निराला' जी की जैसी रचनाएँ न समझ सकने पर प्रायः उसका कारण अपने कम अध्ययन को समझ लेते हैं; इस प्रकार वे अपनी रसानुभूति मे अविश्वास करना सीखते हैं। आलोचकों का आतक उनकी इस भीरुता एवं अविश्वास-वृत्ति को और भी बढा देता है। हिन्दी-काव्य की दृष्टि से यह आत्म-विश्वास की हानि वाञ्छनीय नहीं है।

पाठको को आतकित करने का आलोचको के पास एक अत्यन्त सफल अस्त्र है—दर्शन । कोई कवि उच्च कोटि का दार्शनिक है, इसलिए वह पाठकों की समझ मे नही आता । उदाहरण के लिए कहा जायगा कि 'निराला' जी की अन्तिम कविता जो हमने उद्धृत की है, दार्शनिक है । किन्तु दार्शनिकता का अर्थ न तो दुरूहता है और न कुछ प्रसिद्ध दार्शनिक सूत्रों या सिद्धान्तो को किसी तरह कविता के कलेवर मे ठूँस देने की क्षमता । उदाहरण के लिए उपनिषद् ने बड़े स्पष्ट शब्दों मे कहा है—एतस्माद्वा आत्मनः आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्य पृथ्वी इत्यादि अर्थात् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई । इस स्पष्ट मन्तव्य को 'निराला' जी नितान्त दुरूह व्यञ्जना में बाँध कर कहते है—गगन जल-जल-धार—(रे कह) । यदि 'निराला' जी इस वक्तव्य को अधिक समर्थ भाषा मे कहते तो भी कोई बडे श्रेय की बात न होती, क्योंकि सिद्धांत उपनिषत्कार का आविष्कार है न कि 'निराला' जी का । फिर उसे व्यर्थ ही दुरूह बनाकर उन्होने अपनी दोहरी अशक्ति का परिचय दिया है—वे कोई नयी दार्शनिक बात नही सोच सके और स्पष्ट मन्तव्य को सुस्पष्टतया व्यक्त भी नहीं कर सके ।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की मान्यताओ की गन्ध या उल्लेख आ जाने से कोई कविता दार्शनिक नही हो जाती, उसे साम्प्रदायिक भले ही कहा जा सके । अँग्रेजी मे डॉन कवि दार्शनिक कहा जाता है, पर उसमे कही प्लेटो, अरस्तू, डेकार्ट आदि के सिद्धान्तो को ठूँसने का प्रयत्न

नहीं है। वस्तुतः आजकल हिन्दी में कोई दार्शनिक कवि नहीं है, दर्शन के ज्ञाता कवि भले ही हो। पत के 'मौन-निमंत्रण' एवं 'निराला' की 'तुम तुंग हिमाचल श्रृंग' आदि रचनाओं मे दार्शनिकता देखना हमारे साहित्य की अप्रौढ़ता अथवा अनुन्नत होने का परिचायक है। स्वयं निराला जी को भी विश्वास है कि वे दार्शनिक हैं। एक जगह उन्होंने विचित्र अहकार से अपने दार्शनिक होने का दावा किया है। पन्त ने रवीन्द्र आदि के भावो का अपहरण किया है, यह सिद्ध करने का उपक्रम करते हुए वे लिखते हैं—'यद्यपि अपनी शिक्षा का हाल पन्त जी ने नही लिखा, छिपा रक्खा है, तथापि एक जिज्ञासु दार्शनिक को वह धोखा नही दे सके' (पन्त जी और पल्लव)। हिन्दी जैसे अर्ध-विकसित साहित्य का ही एक प्रसिद्ध लेखक 'जिज्ञासु' तथा 'दार्शनिक' पदो का ऐसा दुरुपयोग कर सकता है। हम फिर कहते हैं कि किसी भी दर्शन के कतिपय सिद्धान्त-सूत्रों का समावेश कर सकने का नाम दार्शनिकता नहीं है, असली दार्शनिकता जीवन और जगत के व्यापक सम्बन्धों को एक नई दृष्टि से देख सकने की क्षमता का नाम है। अँग्रेजी कवि डॉन में यह क्षमता विद्यमान है।

निराला जी में आलोचना-शक्ति की कमी नहीं है; इसका प्रमाण उन्होने अनेक स्थलों पर दिया है; पर शायद वे उस शक्ति का उपयोग अपनी कविताओं के भाव-निर्वाह मे कम करते हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने 'पन्त जी और पल्लव' लेख मे पन्त की कतिपय कमियों को बडी सूक्ष्मता से पकड़ा है। पन्त के शब्द-मोह को लक्षित करते हुए उन्होंने लिखा है—'परन्तु अधिकांश स्थलों में सुन्दर से सुन्दर भावों

को उन्होने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इसलिए कि यह भावों के सौन्दर्य पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना शब्दों के सौन्दर्य पर'। अन्यत्र पन्त के एक उदाहरण की रवींद्र की पंक्तियों से तुलना करते हुए वे कहते हैं—'रवीन्द्र की दोनो पंक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, पन्त जी की दोनों पंक्तियाँ एक-दूसरे से अलग।'[१] इस उद्धरण में पन्त की उस कमी का उल्लेख है जिसे हम असामजस्य नाम से अभिहित कर रहे हैं। उक्त लेख में निराला जी ने पन्त के इस दोष का बार-बार उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पन्त की एक कविता का विश्लेषण विशेष मार्मिकता से किया है; हम उसे समग्रता में उद्धृत करेंगे :—

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले ! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?
> भूल अभी से इस जग को

'वही हालत इन पंक्तियों की भी है। कवि 'बाला' के 'बाल जाल' से छूट कर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूट कर जहाँ ठहरेंगे, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावतः 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो द्रुमों की मृदु छाया में क्या करने गए ? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ? प्रकृति में ही

रहे, तो उत्कृष्ट को छोड कर निकृष्ट को क्यो ग्रहण किया ?—प्रकृति में 'बाला' से और मधुर क्या होगा ? 'बाला' को छोड कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन है—उससे स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति मे 'बाला' के 'बाल-जाल' छोड़कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावतः मधुर होना चाहिये। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हो वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमों की शीतल छाया कब पसन्द होगी ? इस कविता के अन्यान्य पद भी इसी तरह कला को पतन की ओर झुका देते हैं।'

[पन्त जी और पल्लव]

'निराला' जी की सूक्ष्म रसानुभूति सराहनीय है, पर शायद उनका विश्लेषण अपूर्ण है। बात यह है कि 'द्रुमो की छाया' तथा 'प्रकृति की माया' और 'बाल-जाल' के चित्रो मे कोई सामजस्य नही है। 'बाल-जाल' मे उलझने की अनिच्छा या अनुपयुक्तता का 'द्रुमो की छाया' के विशिष्ट चित्र से क्या सम्बन्ध है ? क्या 'द्रुमों की छाया' बाल-जाल से कोई समानता रखती है और उसके समान या उससे अधिक आकर्षक लगती है ? किन्तु फिर 'प्रकृति से माया' तोड़ने की क्या सार्थकता है ? वस्तुतः स्वयं प्रकृति का उल्लेख हो जाने पर द्रुम-छाया आदि का उल्लेख अनावश्यक हो जाता है, क्योकि वे प्रकृति के ही अग हैं। दूसरी पंक्ति मे 'भी' का प्रयोग और भी निरर्थक है। चित्र-गत साम्य या सगति की दृष्टि से इस कविता का तीसरा पद्य ठीक है,

कोयल का वह कोमल बोल
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूं
सजनि, श्रवन!
भूल अभी से इस जग को—

कोयल का बोल सुन्दर है, मधुकर की वीणा अनमोल है, फिर बाला के स्वर में ही क्या विशेषता है कि कवि उसे सुनता रहे? पाठक देख सकते हैं कि प्रथम पद्य की इस प्रकार की व्याख्या संभव नहीं है, यही 'निराला' जी की शिकायत का मूल कारण है।* आशा है,

---

*—शायद निम्न कविता में, जिसकी भावभूमि पन्त की उक्त कविता से मिलती-जुलती है, इस प्रकार के असामंजस्य की शिकायत न हो —

तुम्हारे अधरों की समता
बनाती प्रिय पुष्पों के दल,
तुम्हारी स्मिति की व्याख्या-सी
उषा की आभा स्वर्णोज्ज्वल।
अपांगों का शुचि शुभ्र विलास
बनाता ज्योत्स्ना को सुन्दर,
प्रेम की निर्मलता से प्रिये
सरित का जल लगता शुचितर!
तुम्हारी केश-स्मृति काली

इस लम्बी-चौड़ी विवेचना द्वारा पाठको के हृदय पर रागात्मक (तथा विचारगत) सामञ्जस्य का आशय अंकित हो गया होगा।

छायावादी काव्य में असामंजस्य दोष की, जो कविता के रचना-सौष्ठव एवं स्पष्टता, दोनों पर समान रूप मे आघात करता है, जड़े कितने व्यापक तथा गहरे रूप मे फैली हैं, यह सोंचते हुए भय होता है। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि उसके एतत्कालीन कवि, प्रतिभाशाली होते हुए भी, अपनी बहुसंख्यक रचनाओं को सुबोध और सरस नही बना पाते। इसका मुख्य कारण, हमारी समझ में, अनुभूति के साथ कल्पना का अनुचित हस्तक्षेप है। 'पल्लव' में अनुभूति का रंग गहरा है, इसलिए कही-कही विचारगत असा-

---

निशातम को करती प्यारा,
कटाक्षों की हर चञ्चल याद
चमकने लगती बन तारा !
सोचता था मै केवल प्रिये
एक तुमको ही करना प्यार,
हो गया पर वे धोखे में आज
अखिल जग का मुझ पर अधिकार।

[प्रणय-गीत]

पाठक कृपया नोट करें कि कविताओ की यह तुलना केवल सामञ्जस्य को लेकर की गई है। ऐसा ही आगे की तुलनाओं में भी समझे।

मजस्य रस-भग नहीं करता; फिर भी अनेक कविताओ की रचना शिथिल है जिसके कारण रसानुभूति परिपूर्ण नहीं हो पाती, यद्यपि इन कविताओं में सुन्दर पंक्तियों एवं पद्यों की प्रचुरता है। 'अनंग' कविता के निम्न पद्यो में रागात्मक सामंजस्य एकदम नष्ट हो गया है—

> बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
> सजा सटे-कुच कलशाकार,
> पलक-पाँवडे बिछा, खडे कर
> रोओं में पुलकित-प्रतिहार,
> बाल-युवतियाँ तान कान तक
> चल-चितवन के बन्दनवार
> देव! तुम्हारा स्वागत करतीं
> खोल सतत-उत्सुक दृग-द्वार।

यहाँ दूसरे पद्य के चित्र जितने सुन्दर है, प्रथम के उतने ही असुन्दर या भद्दे; 'दीर्घ साँसो की भेरी' तथा 'सटे-कुच कलशाकार' हमारी सौन्दर्यवृत्ति पर कर्कश आघात करते हैं, और पद्यों के मुख्य भाव को विकृत कर देते हैं। 'बालापन' कविता की भी गठन शिथिल और सौन्दर्य-दृष्टि अपरिपक्व है—

> वह ज्योत्स्ना मे हर्षित मेरा
> कलित कल्पनामय संसार,
> तारों के विस्मय से विकसित
> विपुल भावनाओं का हार,

सरिता के चिकने-उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध–विश्व का रूप नवीन;

प्रथम पद्य का भाव-सौन्दर्य जितना कोमल एव सरस है उतना दूसरे का नही, अन्तिम पंक्ति में 'वृद्ध' विशेषण का प्रयोग कोमल भावोन्मेष मे रसभंग उपस्थित कर देता है।

महादेवी के काव्य में कल्पना का प्राधान्य है, और शायद इसी-लिए रागात्मक सामंजस्य का विशेष अभाव है। किन्तु उनका सूक्ष्म गुम्फन पाठक को प्रायः समग्र कविता पर एक साथ दृष्टि डालने से रोकता है जिसके फल-स्वरूप वे इस कमी को नहीं देख पाते। इस परिस्थिति का दूसरा फल यह है कि उनकी कविताएँ हमे कभी रससिक्त नहीं करतीं। पाठको का मस्तिष्क चित्रण की बारीकी में इतना उलझ जाता है कि उनकी रागात्मिका वृत्ति को उन्मिषित होने का समय ही नहीं मिलता। 'नीहार' की एक कविता का प्रथम पद्य इस प्रकार है—

निश्वासो का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार;
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनो का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है, 'कितना अस्थिर है संसार' !

इस पद्य में संसार को 'अस्थिर' कहा गया है; अगले पद्यों में क्रमशः उसे 'मादक', 'निष्ठुर' और 'पागल' वर्णित कराया गया है। इस विशेषणों के प्रयोग में कोई विचारगत क्रम नहीं है। वस्तुतः 'अस्थिर' विशेषण सबसे तीव्र या तीखा है और यदि वह सबसे अन्त में आता, तो अधिक उचित होता।

'नीरजा' और 'साध्यगीत' में महादेवी जी में एक दूसरी प्रवृत्ति दिखाई देती है। वहाँ उनकी कविताओ का आरंभ अतीव आकर्षक पंक्तियों से होता है, किन्तु कविताओं के कलेवर में उन पंक्तियो का निर्वाह नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि कवयित्री के दिमाग मे एक सुन्दर पंक्ति गूँजने लगती है और वे उस पंक्ति का उपयोग करने के लिए एक पूरी कविता लिख डालती हैं। किन्तु शेष कविता में अनु-भूति उनका साथ देती नहीं दिखाई पड़ती। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

'दिया क्यों जीवन का बरदान ?' 'प्राणों के अन्तिम पाहुन'; 'तुम्हें बाँध पाती सपने मे ?'; 'कौन तुम मेरे हृदय में ?'; 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'; 'प्राण पिक प्रिय-नाम रे कह !', 'मैं नीर भरी दुख की बदली !' इत्यादि। इनमें सम्भवतः तीसरी पंक्ति का ही कविता के कलेवर में उचित निर्वाह हो पाया है। पहली पंक्तिवाली कविता लीजिए:

दिया क्यों जीवन का वरदान ?
इसमें है स्मृतियों का कम्पन

सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन
स्वप्न लोक की परियाँ इसमें
भूल गईं मुस्कान !

जीवन का वरदान क्यों दिया—यह पहली पंक्ति उपालंभ-मूलक है, उलाहना-रूप है, अतः आगे कवि को बतलाना चाहिए कि जीवन मे कितनी खराबियाँ है, जिसके कारण उनका वरदान वाञ्छनीय नहीं है। पहली दो पंक्तियों को उपालंभ की पोषक माना जा सकता है, किन्तु अन्तिम पक्ति—स्वप्न लोक की परियाँ इत्यादि—इस कोटि मे नही आ सकती। 'तुमने जीवन का वरदान क्यो दिया, उसमें तो स्वप्न लोक की परियाँ मुस्कान भूल गई हैं' यह तर्क विचित्र-सा लगता है। यह कविता रश्मि की है।* 'नीरजा' की एक प्रसिद्ध कविता देखे,

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में
प्रलय में मेरा पता पद-चिन्ह जीवन में
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

---

*—क्या इस पंक्ति का दूसरा यह अर्थ है कि—'यह जीवन इतना खराब है कि यहाँ स्वप्न-लोक की परियाँ मुस्कराना भूल गई है'? उस दशा में परियो को स्वप्न-लोक की (अवास्तविक) बतलाना 'मुसकान भूलने' की घटना को कल्पित अथच अप्रामाणिक बना देगा। स्वप्नगत प्राणियो के सुख-दुख की इतनी चिन्ता क्यो ?

यहाँ प्रथम पंक्ति लिखने के बाद महादेवीजी जैसे बीन और रागिनी के सुन्दर चित्रों को एकदम भूल गई हैं, शेष पद्य में उनका कोई सकेत, कोई चिह्न नहीं है। इसी प्रकार अन्तिम पंक्ति का बीच की चार पंक्तियो से कोई लगाव नहीं मालूम पड़ता, उसके बदले यदि एक ब द की ऐसे ही स्थल की दूसरी पंक्ति रख दे,

नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ।

तो शायद अर्थ मे कोई विपर्यय अथवा हानि-लाभ न होगा। आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के समझदार पाठक भी इन पंक्तियों को चाव से पढते रहे हैं, जैसे उन्हे भाव या अर्थ से कोई सरोकार नहीं हो और उनके मनोविनोद के लिए चमत्कारी चित्र-संगठन तथा चुस्त तुकबन्दियाँ काफी हो। कवि और पाठक, दोनों का यह रुचि-विवर्तन दयनीय है।

महादेवीजी की एक बड़ी मार्मिक पंक्ति है—

प्राणपिक प्रिय-नाम रे कह !

मालूम होता है जैसे स्वय मीरा, कुछ अधिक बारीक आवाज मे, बोल रही है। किन्तु आगे की कविता पढते ही जादू उत्तर जाता है, प्राण-पिक से प्रिय नाम कहने का आग्रह करना और उसकी सार्थकता या महत्ता का विवरण देना भूलकर महादेवी जा उससे न जाने क्या-क्या कहने का अनुरोध करने लगती हैं,

मैं मिटी निस्सीम प्रिय में
वह गया बँध लघु हृदय में

अब विरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह !
दुख अतिथि का धो चरण तल
विश्व रसमय कर रहा जल
यह नहीं क्रन्दन हठीले
सजल पावस मास रे कह !

यहाँ तुको में असाधारण शिथिलता है, पर वह साधारण कमी है। शिकायत की मुख्य बात यह है कि आगे की पक्तियों में प्राणपिक के लिए प्रिय नाम कहना कोई जरूरी या महत्त्व की बात नही रह जाती; दूसरी चीजों को दूसरे ढग से पुकारना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। बल्कि इन आगे के सम्बोधनों की सार्थकता की तुलना में पहला सम्बोधन फीका पड़ जाता है, क्योकि उनकी सार्थकता का निर्देश नहीं किया गया है।

उक्त गीत की तुलना पाठक 'विनय-पत्रिका' के उन दर्जनों पदो से करें जिनमें तुलसी ने अनन्य भक्ति और विश्वास से नाम की महिमा का गान किया है। वहाँ ऐसी विसंगति या उलझन का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा—

(१) राम राम रमु, राम राम रहु, राम राम जपु जीहा
राम-नाम-नवनेह-मेह को, मन! हठि होहि पपीहा।
रामनाम-गति, रामनाम मति, रामनाम अनुरागी
ह्वै गए, हैं, होहिंगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड भागी।

(२) राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे,
घोर भव-नीरनिधि नाम निज नाव रे
भलो जो है, पोच जो है, दाहिनो जो बाम रे
राम-नाम ही सों अन्त सब ही को काम रे

पाठक देखेंगे कि इन पदो में 'नाम' एक केन्द्रगत धारणा रहती है जिसकी सम्बद्धता मे विविध चित्रो और भावनाओं का प्रसार किया जाता है। वस्तुतः स्वल्पकाय गीति ऐसी ही एक भावना के प्रकाशन का माध्यम होता है। किन्तु छायावादी गीतो में, विशेषतः महादेवी की रचनाओ में, इस प्रकार किसी केन्द्रीय भावना को ढूंढ निकालना असम्भव मालूम पडता है।

इतनी सुन्दर पंक्ति महादेवी जी की कविता मे व्यर्थ हो गई, यह देख कर कष्ट होता है। 'सांध्यगीत' में एक ऐसी सुन्दर पंक्ति है—

मै नीर भरी दुख की बदली !

पक्ति में शायद विचारगत क्रम नही है, नीर को स्पष्ट रूप में दुख रूप नहीं कहा गया है, पर उसमे रागात्मक सामंजस्य पूर्ण है। पंक्ति किसी लोकगीत की मालूम पड़ती है जिसे साधारण शिक्षित लोग गा सकें। इस पक्ति का भी आगे निर्वाह नहीं हो पाया है :—

स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा
नयनो में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

मेरा पग-पग संगीत भरा
स्वासों में स्वप्न पराग झरा
नभ में नव रँग बुनते दुकूल,
छाया मे मलय बयार पली !

मैं क्षितिज भ्रुकुटि पर घिर धूमिल
चिन्ता का भार बनी अविरल
रजकण पर जलकण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर हो निकली !

पथ को न मलिन करता आना
पद-चिह्न न दे जाता जाना
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमडी कल थी मिट आज चली !

शेष कविता का प्रथम पक्ति से रागात्मक ऐक्य नहीं दीखता। प्रथम पक्ति में जैसी तरल करुणा है, वैसी कविता में अन्यत्र नहीं है। उलटे 'मेरा पग-पग सगीत भरा', 'नव जीवन-अङ्कर हो निकली', 'सुख की सिहरन हो अन्त खिली' आदि पंक्तियाँ करुण वातावरण को भंग करने वाली हैं। प्रथम-पक्ति के बाद आने वाला पद्य अनिवार्य नहीं मालूम पड़ता। यही सम्पूर्ण कविता का हाल है। वस्तुतः काव्य-प्रवाह

मे अनिवार्यता की प्रतीति तब होती है जब उसमें नितान्त स्वाभाविक गति से अनुभूति का अपना भाव-प्रवेग आगे बढ़ता जाता है।

'स्पन्दन में चिर निस्पन्द' मे दार्शनिकता का पुट है, पर वह बहुत उच्च कोटि के भावावेश का बलिदान करके लाया गया है और उन्हीं को रुचिकर लगेगा जो अल्प परिचय के कारण दर्शन से शीघ्र ही आतंकित हो उठते हैं।*

---

*—शायद निम्न कविता में, जिसकी प्रथम तथा अन्तिम पंक्तियाँ महादेवी जी की हैं, पाठकों को सामजस्य का अभाव न लगेः—

मैं नीरभरी दुख की बदली !
वेदना-पयोनिधि से उमडी
करुणा-समीर की गोद पली ?
गहरे विषाद के काजल से
रे रँगी गई मेरी काया,
आँसू-निमित उर, जीवन पर
गति-परिवर्तन की घन छाया;
पीछे आया तम-शोक विपुल
मैं जहाँ-जहाँ जिस ओर चली
मै नीरभरी दुख की बदली ?
नभ की सूनी गहराई में
सन् सन् करती पुरवाई में
मै लक्ष्य-भ्रष्ट तिरती फिरती

छायावादी युग के एकमात्र महाकाव्य 'कामायनी' में, कथात्मक सूत्र की उपस्थिति के कारण, सामंजस्य की विशेष आशा की जा सकती थी। पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। मनोवैज्ञानिक रूपक के निर्वाह के फेर में प्रसादजी न तो अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व ही दे सके हैं और न कथा-प्रवाह की ही रक्षा कर सके हैं। उदाहरण के

आकाश-बेलि-सी व्यर्थ फली।
मैं नीरभरी दुख की बदली?
मेरी सतरगी पीडा से
जग करता मनोविनोद कभी
खारे अँसुओं से हो जाता
क्षत उसका क्रीडामोद कभी;
यह व्यथा एकरस पर सुख के
भ्रम से भी कभी गई न छली
मैं नीरभरी दुख की बदली!
क्यों आई थी क्या खोज रही
उर लिए कौन दुख-बोझ रही
मत पूछो, लघु इतिहास यही
उमडी कल थी, मिट आज चली!
मैं नीरभरी दुख की बदली!

सामञ्जस्य की दृष्टि से 'दीपशिखा' की—'मेघ-सी घिर झर चली मैं'—शीर्षक कविता सन्तोषप्रद है।

लिये पहले प्रकरण में मनु द्वारा चिन्ता को सम्बोधित करके पूरे आठ पद्य कहलाये गए हैं, और एक दूसरे प्रकरण में श्रद्धा और लज्जा का संवाद कराया गया है। मनोवैज्ञानिक भावों का असली पात्रों के बीच इस प्रकार प्रवेश पाठको को विचित्र उलझन में डाल देता है और पूरा काव्य अमूर्त्त, अस्पष्ट एवं दुरूह हो उठता है। पात्रो का वर्णन करते हुए प्रसाद जी यह प्रायः नहीं भूलते कि वे अमूर्त्त मनोभावो के सम्बन्ध में लिख रहे हैं; फलतः कथा की सरसता एकदम नष्ट हो जाती है और पाठक विमूढ भाव से 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल' जैसी पंक्तियो का दोहरा अर्थ लगाने की चेष्टा में एक भी हृदयंगम नहीं कर पाता। अध्यापक गैरोड ने रूपकात्मक काव्यों की ऐसी ही कठिनाइयो को लक्ष्य करके कहा है :—

'सब प्रकार का रूपकात्मक कथा-काव्य काटता है—काव्य के मर्मस्थल मे। ऐसा काव्य, सब युगों मे, उन भीरु हृदयों का शरण-स्थल रहा है जिनके मस्तिष्क जीवन की वास्तविकताओ का सामना करने के अनभ्यस्त हैं, पर साथ ही उनकी सर्वथा उपेक्षा करना भी सम्भव नहीं पाते*।' प्रसिद्ध कवि-आलोचक गेटे को भी रूपकात्मक

---

*All allegory bites—bites into the nobler vitals of poetry. Of timid minds brought up against facts, and too conscientious to ignore them altogether, allegory is, in all periods, the natural refuge. [Keats, पृ० ६५]

कथा-शैली पसन्द नहो है, वे उसे अस्वाभाविक काव्य मानते हैं*।

प्रकृत काव्य में 'लज्जा' या 'चिन्ता' के सामान्य रूप को लक्षित करने की चेष्टा नहीं होगी—यह काम तो मनोविज्ञान नामक शास्त्र का है; वहाँ तो उन्हें वास्तविक मानवी व्यापारों में अनुस्यूत या प्रतिफलित ही दिखाया जायगा। प्रकृत काव्य में 'चिन्तित मनुष्य' और 'लज्जावती नारी' का चित्रण ही ग्राह्य हो सकता है, 'चिन्ता' और 'लज्जा' का विवरण नहीं। यही कारण है कि हमें 'कामायनी' की 'श्रद्धा' की अपेक्षा कालिदास की लाजभरी 'शकुन्तला' और 'इन्दुमती' कहीं अधिक मोहक लगती हैं।

व्यष्टि रूप में, 'कामायनी' के प्रकरणों एवं पद्यों में निर्माण की शिथिलता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस दृष्टि से प्रसाद जी छायावाद के अन्य कवियों, पन्त आदि से, पीछे हैं।**

---

*There is a great difference between a poet who seeks the particular for the sake of the universal and one who seeks the universal in the particular. The former method breeds Allegory......but the latter is the true method of poetry.—

**—हमारा विचार है कि मूर्त्तता और सप्राणता की दृष्टि से

(Countries of the Mind, Second series
पृ० ५४ पर J. M. Murry द्वारा उद्धृत)

उनके काफी पद्यों में ऐसी पंक्तियाँ अथवा कल्पनाएँ मिलेंगी जो न केवल शेष पद्य के भाव को आगे नहीं बढ़ातीं बल्कि उसे घसीट कर एक नीचे स्तर पर ले आती हैं। उच्च भावभूमि से नीचे की ओर यह पतन पाठकों को बहुत खलता है। ऐसे स्थलों में विचारों अथवा भावों की संगति स्वतः ही नष्ट हो जाती है। अन्य प्रकार के असामंजस्य की भी कमी नही है। कुछ उदाहरणों से हमारा वक्तव्य स्पष्ट हो जायगा। प्रथम प्रकरण के मनु-वर्णन में हम पढ़ते हैं—

(१) उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े,
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

× × × ×

(२) चिन्ता-कातर वदन हो रहा
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत

पन्त और निराला का काव्य प्रसाद की कविता से श्रेष्ठ है। प्रसाद का भारतीय संस्कृति से अधिक प्रगाढ़ परिचय था, पर वे उसे काव्य में उतना स्पष्ट प्रतिफलित नहीं कर सके जितना कि नाटकों में।

(३) बँधी महावट से नौका थी
सूखे में अब पड़ी रही
उतर चला था वह जल-प्लावन
और निकलने लगी मही।

(४) निकल रही थी मर्मवेदना
करुणा विकल कहानी-सी
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही
हँसती सी पहचानी सी।

इन पद्यो मे निर्माण-शैथिल्य तथा भाव-धरातल के अनिर्वाह के कई उदाहरण मिलेंगे। प्रथम पद्य का पूर्वार्द्ध जैसा उदात्त है वैसा उत्तरार्द्ध नहो; 'अडे' विशेषण पर ध्यान देकर पाठक इसे सहज ही देख सकेंगे। हम नहीं कहते कि यह विशेषण ग्राम्य है, पर वह शिष्ट एवं सस्कृत भावभूमि से च्युत करनेवाला अवश्य है। दूसरे पद्य मे 'चिन्ता-कातर' से 'पौरुष ओत-प्रोत' होने की संगति नहीं बैठती और 'उधर' की अर्थ-दिशा स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार तीसरे पद्य की दूसरी पंक्ति कमजोर जॅचती है, और इस पूरे पद्य की अपने पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती पद्यो से संगति नही बैठती—मनु की मुद्राओ के वर्णन में यह व्याघात उपस्थित कर देता है। अंतिम पद्य में 'मर्म वेदना' 'कहानी' से मेल नही खाती—कहानी के साथ कल्पित होने का अनुषग रहता है जबकि मर्मवेदना गंभीर वस्तु है। इसी प्रकार प्रकृति को 'हॅसती-सी' कहना सार्थक नहीं लगता। यहाँ पाठक याद रक्खे कि कामायनी का प्रारंभिक अश उसका उत्तम अंश है।

'चिन्ता' को संबोधित मनु के कुछ पद्य देखिए,

(१) 'ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कंप सी मतवाली !

(२) हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल माया की चल रेखा !

(३) इस ग्रह-कक्षा की हलचल ! री
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा-मरण जीवन की, और न
कुछ सुननेवाली, बहरी !

× × × ×

(४) मनन करावेगी तू कितना ?
उस निश्चिन्त जाति का जीव,
अमर मरेगा क्या ? तू कितनी
गहरी डाल रही है नींव !

यहाँ प्रथम पद्य में चिन्ता की ज्वालामुखी के स्फोट कंप से तुलना करके फिर उसे 'अभाव की चपल बालिका' तथा 'हरी-भरी सी दौड़-धूप' अथवा 'जल-माया की चल रेखा' कहना वातावरण की गंभीरता

को कम कर देता है। इसी प्रकार तृतीय पद्य का 'और न कुछ सुननेवाली, बहरी' अंश कमजोर ही नहीं, निरर्थक है, और प्रथम पंक्ति के सौन्दर्य को सर्वथा हत कर देता है। अन्तिम पद्य की सारी रचना शिथिल है और 'तू कितनी गहरी डाल रही है नींव' अंश तो व्यर्थ ही है।

निर्वेद में घायल मनु श्रद्धा से कह रहे हैं,

(१) तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया विश्व खेल है खेल चलो
तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते खेल चलो
यह भी अपने बिजली के से विभ्रम से संकेत किया
अपना मन है, जिसको चाहो तब इसको दे दान दिया।

× × × ×

(२) कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ
कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ
किन्तु अधम मैं समझ न पाया उस मंगल की माया को
और आज भी पकड़ रहा हूँ हर्ष-शोक की छाया को
मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ
ऐसा ही अनुभव करता हूँ किरनों ने अब तक न छुआ।

प्रथम पद्य की दूसरी पंक्ति मनु के बाद के जीवन पर नहीं घटती, वे सबसे मेल करना कहाँ सीख पाए? श्रद्धा से अलग होकर वे घोर व्यक्तिवादी के रूप में दिखाई देते हैं? वस्तुतः यह पंक्ति तुक मिलाने के ही लिए लाई हुई जान पड़ती है। कोष्ठकबद्ध अंश बहुत कमजोर है

और भावों की शिथिलता की द्योतक हैं, यह पाठक ध्यान से पढ़ कर सहज ही देख सकेंगे। कुल मिलाकर ये पंक्तियाँ पाठक का प्रसंगानुरूप रागात्मक आलोडन करने में सर्वथा असमर्थ रहती हैं।

'दर्शन' प्रकरण में श्रद्धा-कुमार माँ से पूछता है—

'माँ ! क्यों तू है इतनी उदास
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास;
तू कई दिनों से यों चुप रह
क्या सोच रही है ? कुछ तो कह;
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह;
लेती ढीली सी भरी साँस
जैसे होती जाती हताश।'

श्रद्धा का उत्तर सुनिए—

वह बोली, 'नील गगन अपार,
जिसमें अवनत घन सजल भार;
आते जाते सुख, दुख, निशि, पल,
शिशु सा आता कर खेल अनिल;
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगनू अविरल;
यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।

यह लोचन गोचर सकल लोक,
संसृति के कल्पित हर्ष शो-;
भावोदधि से किरनों के मग,
स्वाती कन से बन भरते जग;
उत्थान पतन मय सतत सजग,
झरने झरते आलिंगित नग;
उलझन की मीठी रोक टोक,
यह सब उसकी है नोंक झोंक।

इत्यादि

श्रद्धा की संपूर्ण वक्तृता पहेली बुझौवल सी मालूम पड़ती है। पाठक उसे भले ही न समझे, पर वह यह अवश्य समझता है कि श्रद्धा पुत्र के प्रश्नो का उत्तर नहीं दे रही है। रेखांकित अंश श्रद्धा की उदासी नहीं, सन्तोष प्रकट करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इडा इस उत्तर को समझती प्रतीत होती है और श्रद्धा के चुप हो जाने पर पूछती है—

अम्बे, फिर क्यो इतना विराग
मुझ पर न हुई क्यो सानुराग ?

यहाँ 'फिर' शब्द की क्या सार्थकता है यह या तो इड़ा जानती होगी या प्रसाद जी; उसका एक ही अर्थ हो सकता है जो असंगत है—यह कि श्रद्धा के कष्ट का कोई कारण नहीं है, कम से कम इडा की दृष्टि मे। विचारगत असामंजस्य का एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

'जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद है, गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बित हैं तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी !

\+ + + +

दग्ध श्वास से आज न निकले सजल कुहू में आज यहाँ !
कितना स्नेह जला कर जलता ऐसा है लघु दीप कहाँ ?
बुझ न जाय वह साँझ-किरन सी दीप-शिखा—इस कुटिया की
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !

× × × ×

विरल डालियो के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन कथा फिर कौन कहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध विना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे !

इन पद्यों में शायद किसी की भी चारो पंक्तियाँ परस्पर-संबद्ध नहीं हैं। पाठक स्वयं निर्णय करे कि प्रथम पद्य के विभिन्न प्रश्न किस विचारात्मक या भावात्मक ऐक्य से अनुप्राणित हैं। दूसरे पद्य की प्रथम पंक्ति में क्यों प्रश्न किया गया है जबकि पहली में कोई प्रश्न नही है ? उस प्रश्न और उसमें नियोजित 'लघुदीप' की क्या सार्थकता है ? इसी प्रकार अन्तिम पद्य में दूसरी और चौथी पंक्तियाँ पूर्ववर्त्ती पक्तियों से संबद्ध नहीं दीखती।

संपूर्ण कामायनी इसी प्रकार अस्पष्ट एवं असबद्ध व्यञ्जनाओ से भरी है। उसके मार्मिक से मार्मिक स्थल् अपनी अस्पष्टता के कारण रसोद्रेक करने में असमर्थ रहते हैं। आलोचको का आतंक अथवा परीक्षा में फेल होने का भय ही पाठकों या विद्यार्थियो से यह कहला सकता है कि वे उक्त काव्य को समझते और पढ़ कर आनन्द पाते हैं।